महात्मा का अध्यात्म

l

सुजाता

l

सर्व सेवा संघ—प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१००१

ISBN
978-81-922755-9-8

MAHATMA KA ADHYATMA

•

By
Sujata

•

Price : Rs. 60/-

महात्मा का अध्यात्म

•

लेखक
सुजाता

•

संस्करण : पहला
प्रतियाँ : ११००
जून, २०१२

•

प्रकाशन
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१
फोन-फैक्स : ०५४२-२४४०३८५
E-mail : sarvodayavns@yahoo.co.in

•

अक्षर-संयोजन
आर.के.कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर
राजघाट, वाराणसी

•

मुद्रक
सुरभि प्रिंटर्स
इण्डियन प्रेस कालोनी,
मलदहिया, वाराणसी

•

मूल्य : साठ रुपये

अनुक्रमणिका

भूमिका

महात्मा गांधी का नाम जेहन में आते ही एक ऐसे व्यक्ति की छवि उभरती है—एक ऐसे राजनीतिक नेता की छवि, जिसने राजनीति जैसे गंदे तालाब में धर्म और नैतिकता का प्रवाह देकर उसे पवित्र (या पावन) गंगा का रूप दिया हो।

किन्तु जब सम्पूर्ण गांधी वांङ्मय का आद्योपान्त अध्ययन और मनन किया, तो मेरी आँखों के सामने एक दूसरे गांधी थे—सिर्फ और सिर्फ एक उच्च कोटि के आध्यात्मिक महापुरुष, जिन्होंने मातृभूमि और मानवता की सेवा करने के लिए ऊपर से राजनीति की चादर ओढ़ रखा था। वह चादर उनका स्पर्श करके पवित्र तो हो रहा था। किन्तु इस महामानव को अपने में समेटने और लपेटने का साहस नहीं कर सका।

स्वयं गांधी के शब्दों में—"मैं हमेशा से यह कहता आया हूँ कि मेरे जीवन में धर्म का स्थान प्रमुख और राजनीति उसकी अनुवर्तिनी है। मेरे राजनीतिक क्षेत्र में आने का कारण यह हुआ कि मैं अपने धार्मिक जीवन अर्थात सेवामय जीवन को, उससे प्रभावित हुए बिना व्यतीत न कर सका। यदि उससे मेरे धार्मिक जीवन में बाधा पड़े, तो मैं आज ही उसे त्याग दूँ।"

बचपन से मैंने महापुरुषों को पढ़ा है; भारत के महान भक्तों, योगियों की जीवनी को पढ़कर आनंदित होने का सौभाग्य मिला है। सभी महापुरूष लगभग एक जैसे होते हैं। जो भक्ति में डूबा है, वह अपने प्रियतम ईश्वर के माध्यम से पूरी दुनियाँ से प्रेम करता है। तो योगी योग के माध्यम से योगेश्वर से जुड़ना चाहता है और विश्व के तापों को कम करना चाहता है। महात्मा गांधी ईश्वर प्रेम में रत् पूर्ण समर्पित व्यक्ति थे। जहाँ उनकी सभी इच्छा ईश्वरेच्छा है और उन्हें सम्पूर्ण मानवता और देश की सेवा करके अपने सिरजनहार की सेवा करनी है।

धर्म को लेकर न जाने मेरे मन में कितने द्वंद थे। यदि यह धर्म है, तो ऐसा क्यों है? इसमें इतनी सारी विसंगतियाँ क्यों हैं, आदि? उन सारे द्वंदों को महात्मा गांधी ने इतनी अच्छी तरह से समाप्त किया है कि लगता है मेरे जीवन में धार्मिक धागों की जो उलझन थी, उन्होंने सहज में ही समेट कर और साथ ही परिष्कृत करके मेरे उपर इतनी कृपा की है कि मैं अपने आपको उनकी चिर ऋणी मान रही हूँ। किन्तु मेरे मन के कोने में एक बात खटकती रही है कि हमारे देश के धार्मिक नेता महात्मा गांधी को आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में धार्मिक जगत में प्रतिष्ठापित करके इस क्षेत्र को और भी परिमार्जित क्यों नहीं करते हैं? जिस महापुरुष में स्थितप्रज्ञ के वे सारे लक्षण मौजूद हैं, जिन्हें गीता के महानायक श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवत गीता में गिनाये हैं। जो व्यक्ति सिर्फ हिन्दुओं का ही नहीं सम्पूर्ण मानव जाति का मुकुट बन गया, उससे सिर्फ इसके लिए धार्मिक जगत को किनारा कर लेना चाहिए कि वह संकीर्ण हिन्दू धर्म की जगह विस्तृत हिन्दू—धर्म का, उससे भी बढ़कर सम्पूर्ण विश्व—धर्म का व्यक्ति क्यों बन गया? महात्मा गांधी के जीवन काल में कितने ही साधु, संत, योगी और भक्त उनसे मिलकर "ईश्वर हैं" अपने इस विश्वास को दृढ़ से दृढ़तर करते थे।

बचपन से ही मैने तीर्थ स्थानों में अपना बहुत समय बिताया है और साधु—महात्माओं के मन में महात्मा गांधी के प्रति जिस उदासीनता की भावना को देखा—परखा है उससे मुझे आश्चर्य और दुख दोनो ही हुआ है। वर्त्तमान समय में लोग भ्रमवश अंधविश्वास और पाखंड को ही धर्म एवं अध्यात्म समझ रहे हैं। मुझे लगा शायद इन साधु—महात्माओं को गांधी जी के आध्यात्मिक रूप की जानकारी का अभाव है, क्योंकि इन भक्तों के मन में कोई दुराग्रह तो हो ही नहीं सकता। इसी से मैंने आम जनों के साथ—साथ श्रद्धेय, साधु संतों की सेवा हेतु महात्मा गांधी के आध्यात्मिक पक्ष को संग्रहित किया है। मुझे आशा है, वे इसे स्वीकार करेंगे।

महात्मा का अध्यात्म

महात्मा गांधी ने अपने आचरण से अपने आप को एक ऐसा महामानव बना दिया, जिसने सभी धर्मों के लोगों को अपना मानने पर विवश कर दिया। जब भारत गुलाम था और ईसाई धर्म का बोल बाला था, तो कुछ कट्टर ईसाई, जिनके जीवन का मुख्य उद्देश्य ही धर्मांतरण था, जान–बूझकर हिन्दू धर्म को एक ऐसे धर्म के रूप में दुनिया में प्रचारित कर रहे थे कि यह जल्दी ही समाप्त हो जाने वाला धर्म है, क्योंकि हिन्दू धर्म का मतलब ही अंधविश्वास, कुरीतियाँ और पाखंड है। कुछ सज्जन और कम कट्टर ईसाई, जो इस प्रचार में विश्वास करते थे कि हिन्दू धर्म वैसा ही है जैसा हमारे धर्म प्रचारक प्रचार करते हैं, किन्तु साथ ही साथ वे यह भी कहते कि यदि हिन्दू धर्म ऐसा बेकार धर्म है तो उसमें महात्मा गांधी जैसे ऊँचे चरित्र का व्यक्ति कैसे है? इसका मतलब निःसंदेह हिन्दू धर्म में अच्छाइयाँ हैं। यानी गांधी ने अपने चरित्र से पूरी दुनिया के सामने हिन्दू धर्म को सुवासित और सुशोभित किया है। हम कितनी ही बार चिल्ला–चिल्लाकर कहें कि गर्व से कहो "हम हिन्दू हैं", लेकिन इससे हम हिन्दू धर्म की सेवा नहीं कर सकते और न गर्व ही कर सकेंगे। हाँ, दंभ और अहंकार करना जरूर सीख जायेंगे। महात्मा गांधी का मानना था–जो व्यक्ति जिस धर्म में है उसी धर्म को मानता हुआ दिन–प्रतिदिन बेहतर इंसान होने का प्रयास करता जाए।

दुनियाँ के सारे धर्मावलंबी अपने–अपने धर्म को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं और मानना भी चाहिए। किन्तु जब दूसरे के धर्म को कमतर आँका जाता है, तो गड़बड़ होने लगता है। महात्मा गांधी को जितना अपने धर्म के प्रति आदर था, उससे रत्ती भर भी कम दूसरे धर्म के लिए नहीं था। महात्मा गांधी जितना ही अपने आपको धार्मिक गहराई में उतारते गये, उतना ही उनका दूसरे धर्मों के प्रति आदर का भाव बढ़ता गया और साथ ही अपने धर्म के प्रति आस्था दृढ़तर होती गई।

महात्मा गांधी के उदात्त चरित्र और व्यक्तित्व को देखकर प्रत्येक धर्म का धार्मिक नेता और अनुयायी सोचता था कि काश यह व्यक्ति उसके धर्म में होता तो दुनियाँ का सबसे अच्छा व्यक्ति उसके धर्म में होता। एक बार मिशनरियों का एक विस्तृत दल गांधी जी से मिलने आया, तो उसी दल की एक महिला ने महात्मा गांधी से बताया कि पता है; हमलोग आपस में आपके बारे में क्या बाते करते हैं ? महात्मा गांधी ने मुस्कुराते हुए कहा–नहीं। महिला ने कहा–यही कि यदि मिस्टर गांधी ईसाई हो जाएँ, तो धरती का सबसे अच्छा मानव ईसाई है, इस बात का गर्व कर पाते। गांधी जी मुस्कुरा कर रह गये क्योंकि उनके लिए प्रशंसा और निन्दा दोनो समान थे। जीवन में कभी भी बाह्य कारणों या परिस्थितियों से वे दुखी या सुखी नहीं होते थे।

इस्लाम धर्म के अनुयायी का तो यहाँ तक मानना था कि वे अंदर से मुस्लिम धर्म को ही मानते हैं, सिर्फ घोषणा नहीं हुई है। जैन धर्मावलंबी तो उन्हें जैन मानते ही थे। बहुत सारे बौद्ध तथा अन्य लोग उन्हें बुद्ध का ही अवतार मानते थे। हालाँकि महात्मा गांधी इन बातों का खंडन करते थे और मानते थे कि सभी धर्मावलंबियों का इस तरह सोचने का कारण सिर्फ यह है कि मेरे लिए सभी धर्म समान हैं। मेरा धर्म इतना तंग नहीं कि इसमें दूसरे धर्म का स्थान न हो।

कितनी दुखद बात है कि अपने क्रियाकलापों से हिन्दू धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने वाले एवं विश्व की महान आध्यात्मिक विभूतियों में से एक महात्मा गांधी को संत नहीं मानकर कट्टर हिन्दू मताबलंबी महज एक राजनीतिज्ञ मानते हैं।

महात्मा गांधी का मानना था कि विश्व के समस्त धर्म स्वयं ईश्वर ने तो नहीं बनाए, हाँ, ईश्वरीय प्रेरणा से जरूर बने हैं। वह ईश्वरीय प्रेरणा दिव्य व्यक्ति को हुई और उससे पूरी दुनिया में फैली। समय–समय पर दिव्य आत्मा आती रही हैं। फिर भी उनकी नजर में कोई धर्म पूर्ण नहीं था। क्योंकि सारे धर्म मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और चूँकि कोई भी मनुष्य खुद पूर्ण नहीं है, इसी से उसके द्वारा निर्मित

धर्म पूर्ण कैसे हो सकता है ? इसी से किसी भी धर्म में जो कुरीतियाँ, अंधविश्वास और पाखंड हैं, उसका उच्छेदन उस धर्म की रक्षा के लिए ही आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो कोई दूसरा धर्म प्रहार करके उसे नष्ट नहीं करेगा, बल्कि स्वयं उसकी कुरीतियाँ अंधविश्वास और पाखंड उसे कुतर–कुतर कर खोखला कर देंगे, जिससे वह स्वतः ही धराशाई होकर समाप्त हो जाएगा। इसी से यदि कोई व्यक्ति धार्मिक है और अपने धर्म की सेवा करना चाहता है तो अपने धर्म की कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करे, न कि अपने धर्म को लंगड़ा बनाए। अपने धर्म की कमजोरियों एवं कुरीतियों के कारण लोगों से आँखे चुराते रहें, सफाई देते रहें या कुंठाग्रस्त होकर झगड़ा करें, मार–पीट और क्रोध करें। इससे कुछ होने से रहा। आप यह देखें कि आपका दिल क्या कहता है? यदि आपमें मनुष्यता है तो दिल के किसी न किसी कोने से, अन्तरात्मा से यह आवाज जरूर आएगी कि किसी के दिल को दुखाना धर्म नहीं, अधर्म है।

"ईश्वर है क्योंकि हम हैं। महात्मा गांधी के मन में ईश्वर को लेकर जरा भी शंका नहीं थी कि वे हैं या नहीं। उनका मानना था कि यदि मेरा अस्तित्व है, तो वह भी है। उनका तो यहाँ तक मानना था कि यदि किसी दिन दुनिया का एक–एक व्यक्ति यह मानने और कहने लगेगा कि ईश्वर नहीं है, तो भी मैं अकेले एक शिशु की तरह कहता और मानता रहूँगा कि वो है, क्योंकि मैं जानता हूँ वो है।

महात्मा गांधी का ईश्वर न मूर्तियों तक सीमित था, न मंदिरों, मस्जिदों और गिरिजा घरों तक। गीता के नायक पार्थ–सारथी के कहे अनुसार कि उत्तम कोटि का ज्ञानी भक्त मुझ वासुदेव को सभी भूतों में देखता है, तो महात्मा गांधी भी प्रत्येक जीव में उस ईश्वर का दर्शन करते थे। उनका मानना था कि उस ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। उन्हीं के शब्दों में–"मेरा ईश्वर तो सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह तो नास्तिकों की नास्तिकता भी है। हम कुछ नहीं हैं, सिर्फ वही है और अगर हम हैं, तो हमें सदा उसके गुणों का

गान करना चाहिए और उसकी इच्छानुसार चलना चाहिए। आइए, उसकी वंशी की धुन पर हम नाचें। सब अच्छा ही होगा।"

प्रार्थना का महात्मा गांधी के जीवन में वही महत्व था, जो व्यक्ति के लिए वायु का होता है या शायद इससे भी बढ़कर। उनका मानना था कि शायद मैं साँस लिए बिना तो कुछ मिनट जी सकूँगा, किन्तु बिना प्रार्थना के एक मिनट भी नहीं। महात्मा गांधी का तार उस सर्वोच्च सत्ता से अहर्निश जुड़ा रहता था, फिर भी वे सामूहिक प्रार्थना को बहुत महत्व देते थे। एक साथ आसमान के नीचे सिरजनहार की सृष्टि के साथ एक रूप होना, उनके लिए वायसराय के साथ देश की स्वतंत्रता के लिए बातचीत करने से ज्यादा महत्वपूर्ण था।

महात्मा गांधी का प्रार्थना का समय हो गया था और वायसराय की बातचीत अभी समाप्त नहीं हुई थी। प्रार्थना का समय होते ही वे उठ खड़े हुए कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड के मालिक से मिलने का मेरा समय हो गया है।

यह दृष्टांत तथाकथित धार्मिक नेताओं और आमजनों के लिए कितना उपयोगी है। अभी धार्मिक प्रवचन कर्त्ताओं से लेकर साधु महात्माओं की एक ऐसी फौज जमा हो गई है, जो अपने बाह्य रूप को रंग कर दंभ की शिकार बन चुकी हैं। इन लोगों का यम नियम भक्तों में पद और पैसा देखकर बदलता है। ये सभी तथाकथित धार्मिक नेता अपने आपको, लोगों को और ईश्वर को छल रहे हैं।

काश कुछ मुट्ठी भर लोगों में भी वही विश्वास ईश्वर के प्रति होता जो महात्मा गांधी को था तो कैसा निर्भीक भारत होता? जो ईश्वर में विश्वास करेगा वह परमुखापेक्षी क्यों होगा? उसे ईश्वर के सिवा और किसका भय रहेगा और यदि वह ईश्वर से डरेगा तो गलत काम करना तो दूर, वही करेगा जो ईश्वर को प्रिय है। महात्मा गांधी के अनुसार ईश्वर सत्य स्वरूप है, तूँ सत्य का जैसे ही साथ पकड़ेगा प्रायः सारे अवगुण स्वतः दूर हो जाएँगे। सद्गुणों के वृत्त हमारे चारों ओर स्वयं ही बन जाएँगे।

अपनी युवावस्था में ही महात्मा गांधी ने इस बात को समझ लिया था और अपना कर्त्तव्य मान लिया था कि इस संसार में जो एक परमतत्व निश्चित रूप से निहित है, यदि उसकी झाँकी सध सके, उसपर श्रद्धा रहे, तभी जीना सार्थक है। उसकी खोज ही परमपुरुषार्थ है।

महात्मा गांधी सादगी की प्रतिमूर्ति थे। एक बार उनके स्वागतार्थ तोरण द्वार बनाए गए, उसमें खादी के धागे भी टाँगे गए थे। उन्होंने सभा करने से इंकार कर दिया कि ये साज–सज्जा क्यों ? सजावटी मंच की व्यवस्था क्यों? कहीं पर वे चौकी पर बैठकर भाषण देते तो कहीं–कहीं गाड़ी के बोनेट को ही मंच का रूप दे दिया जाता। उन्होंने जब तक उन धागों को सुलझा कर उसे बुनने न दिलवाया और सजावट की तमाम वस्तुओं को हटा न दिया, तब तक उन्होंने वहाँ भाषण नहीं दिया। आज के धार्मिक वक्ताओं का सबसे पहला आग्रह यही रहता है कि उनका मंच भव्य होना चाहिए। सभी वक्ताओं में आपस में होड़ लगी है कि किस का मंच कितने लाख का है ? जिसका मंच जितने ज्यादा का है, वह उतना बड़ा वक्ता। और फिर उस भव्य मंच से वे श्रोताओं को उपदेश देते हैं जीवन में त्याग और वैराग्य को अपनाने की तथा जीवन में सादगी किस प्रकार होनी चाहिए।

गांधी जी के जीवन का सार था, आचार से बढ़कर प्रचार का और कोई दूसरा साधन नहीं हो सकता।

यही नहीं, गांधी तो ईश्वर के स्वरूप तक में चमक दमक स्वीकार नहीं कर पाते थे। एक बार हनुमान प्रसाद पोद्दार (भाईजी) गीता प्रेस, ने उन्हें सीताराम का एक चित्र भेंट किया, जिनमें सीता राम गहनों से पूर्ण सुसज्जित थे। महात्मा गांधी ने उस चित्र को यह कह कर लौटा दिया कि मेरे सीताराम इतने अधिक दागीने (गहने) नहीं पहन सकते। पुनः भाईजी ने उनके भावानुसार चित्र बनाकर उन्हें भेंट किया।

महात्मा गांधी का मानना था कि उनके अंदर जो भी बल आया है वह सिर्फ रामनाम के जप से और उन्हें यह भी विश्वास था कि जो

भी व्यक्ति श्रद्धा और विश्वास से रामनाम का जप करेगा वह अप्रतिम आत्मिक बल का स्वामी बन जायगा।

किन्तु उनकी एक शर्त थी कि उस राम जप में न तो दिखावा होना चाहिए और न उसे अर्जन–उपार्जन का साधन बनाया जाना चाहिए।

बचपन में मेरे नाना जी ने अपना एक अनुभव सुनाया था कि एक बार जब महात्मा गांधी बिहार आए थे, तो मोकामाघाट भी आए थे। वे गंगा के रास्ते स्टीमर से आने वाले थे। गांधी जी आने वाले हैं, यह बात एक कान से दूसरे कान फैलती रही और लोगों के पैर स्वतः उधर मुड़ते गए। उस समय प्रचार का कोई ऐसा सशक्त माध्यम भी नहीं था। किन्तु बेतार का तार आत्मिक शक्ति इतनी प्रबल थी कि लोग खिंचे चले जाते।

महात्मा गांधी का स्टीमर काफी देर से पहुँचा, कड़कड़ाती धूप में सब लोग खुले आसमान के नीचे खड़े थे। नाना जी सुदर्शन व्यक्तित्व के मालिक थे और ऊपर से यौवनावस्था उनके धैर्य ने जवाब दे दिया, वे जाने के लिए मुड़े ही थे कि जहाज आ गया। दूर से देखा–एक साधारण व्यक्तित्व। वे चलते रहे, किन्तु दो मिनट में ही महात्मा गांधी की आवाज कानों में पड़ी कि मैं भी आपलोगों की तरह एक साधारण मनुष्य हूँ लेकिन राम–राम कहते–कहते मेरे अंदर इतना आत्मबल आ गया है कि उसे छोड़कर और किसी से नहीं डरता। आप लोग भी राम–नाम जपें और निर्भय हो जाएँ।

महात्मा गांधी की ये पंक्तियाँ पचासी साल की उम्र में भी उनके कानों में गूँज रही थीं। उनके चेहरे पर अभी भी उस पंक्ति को सुनने की चमक थी। नानाजी ने बताया कि इसके पहले न जाने कितने साधु महात्माओं ने राम–नाम जपने को कहा था, किन्तु श्रद्धा ही नहीं हुई और उस घटना के बाद घर आने के लिए चले, तो पूरी भीड़ के मुँह पर राम का नाम था। आजीवन वे निर्भीक रहे और राम–नाम की लौ लगाए रखा।

महात्मा गांधी का ईश्वर के प्रति गजब का समर्पण था, समर्पण नहीं पूर्ण समर्पण। उन्होंने ईश्वर के सामने अपने को शून्यवत् बना लिया था और ईश्वर ने उन्हें सहस्राब्दी का महानायक बना दिया।

महात्मा गांधी ने अपने पौत्र रसिक का लालन–पालन खुद किया था। उसे रामायण के प्रति अत्यन्त लगाव था। लेकिन उसकी मृत्यु अचानक बुखार आने से हो गई। महात्मा गांधी को जब उसकी मृत्यु का समाचार मिला, आश्रमवासी भोजन के लिए बैठ चुके थे। इसी कारण मृत्यु का समाचार उन्होंने भोजन करने के बाद सभी को बताया। उसी समय कस्तूरबा को पत्र लिखा कि अभी–अभी रसिक की मृत्यु का समाचार मिला, किन्तु मैं दुखी भी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि मैं दुखी होता हूँ, तो अपने स्वामी के कार्य में दोष देखना होगा। जो दासत्व के विरूद्ध होगा और मैं अपने दासत्व में किसी कीमत पर कमी नहीं होने देना चाहता।

यह है अद्‌भुत समर्पण। युवा पौत्र की मृत्यु के क्षण में थोड़ा सा भी विचलित नहीं होना एवं अपने स्वामी के प्रति पूर्ण समर्पण अद्‌भुत है। साथ ही साथ महात्मा गांधी इस बात के लिए संतोष व्यक्त करते हैं कि रसिक को राम के प्रति असीम श्रद्धा थी।

महात्मा गांधी के धर्म का दायरा इतना विस्तृत और व्यापक था कि उसमें पूरी दुनियाँ समा सकती थी। महात्मा गांधी विशुद्ध रूप में एक धार्मिक महापुरुष थे। किन्तु धर्म से मतलब सिर्फ उस हिन्दू धर्म से नहीं था, जिसकी वे बेशक सब धर्मों से ज्यादा कीमत आँकते थे, किन्तु उनका मतलब उस मूल धर्म से था जो हिन्दूधर्म से कहीं उच्चतर है। जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है, जो हमें अन्तर के सत्य से अटूट रूप से बाँध देता है, जो निरंतर अधिक शुद्ध और पवित्र बनाता रहता है।

महात्मा गांधी की दृष्टि में दुनिया का कोई भी धर्म किसी दूसरे धर्म से हेय या श्रेष्ठ नहीं हो सकता। क्योंकि सभी धर्म संसार की सर्वश्रेष्ठ नीतियों पर टिकी हुई है। वे ऐसा समझते थे कि यदि कोई व्यक्ति सही मायने में धार्मिक या आध्यात्मिक हो जाएगा तो वह किसी दूसरे व्यक्ति को उसके अपने धर्म में कम आस्था करा ही नहीं सकता। क्योंकि पूर्ण धार्मिक व्यक्ति पूर्ण सत्य और पूर्ण प्रेम में पूरी तरह डूब

जाएगा। पूर्ण धार्मिक व्यक्ति का पहला लक्षण है कि सब धर्म के प्रति समभाव और जो व्यक्ति जिस धर्म का है उसी की नीतियों में, उसी की अच्छी बातों में उसका मन और दृढ़ करे।

धर्म परिवर्तन कराने को वे उचित नहीं मानते थे। उनकी कोशिश किसी दूसरे के धार्मिक विश्वास को हिलाने की या उनकी नींव खोदने की नहीं, बल्कि उसे अपने धर्म का एक अच्छा अनुयायी बनाने की होती थी। इसी के कारण उनका सभी धर्मों की सच्चाई में विश्वास और सबके प्रति आदर का भाव था।

उनका मानना था–चूँकि सारे धर्म मनुष्य द्वारा निर्मित हैं इससे कोई भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा करने वाला अपूर्ण है। सभी धर्मों में कम या ज्यादा मात्रा में मानवीय अपूर्णता है।

ईसाईयों के इस दावे से कि वे गूढ़ आध्यात्मिक अनुभवों को दुनिया में बाँटते हैं, महात्मा गांधी पूर्ण असहमत थे, क्योंकि उनकी नज़र में गूढ़ आध्यात्मिक सत्य सदैव अनिर्वचनीय होता है। गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूति सिर्फ अर्न्तज्ञान से हो सकता है।

महात्मा गांधी का मानना था कि जितने भी संत, महापुरुष, पैगम्बर ने ईश्वर की बातें लोगों तक पहुँचाईं, उसमें उनके जीवन और आचरण की भूमिका जितनी सशक्त रही, उतनी जिहवा की, वाणी की नहीं रही। वस्तुतः आचार से बढ़कर दूसरा कोई प्रचार नहीं हो सकता। जो काम दूसरों से कराना चाहते हैं, उसे स्वयं करें।

महात्मा गांधी अपने सहयोगियों के अंदर भी धार्मिक चेतना भरने का प्रयास करते रहते थे। पं0 नेहरू के बारे में महात्मा गांधी मानते थे कि वह अंदर से तो भक्त हैं, किन्तु धर्म के वाह्य रूप में फैले प्रचण्ड पाखंड को देखकर उन्होंने प्रतिक्रियात्मक विचार अपना लिया है। उन्होंने पं0 नेहरू से कहा–चूँकि सच्चा धर्म जीवन में और संसार में सबसे बड़ी चीज है, इसीलिए इसी का सबसे अधिक दुरूपयोग किया गया है और जिन लोगों ने इन शोषणों और शोषकों को तो देखा और वास्तविकता नहीं देखा, उन्हें स्वभावतः इस वस्तु से अरूचि

हो गई। पर धर्म तो आखिर व्यक्तिगत वस्तु है और ह्रदय की वस्तु है, फिर चाहे हम उसे किसी नाम से पुकारें। जो चीज मनुष्य को घोर ज्वालाओं के बीच अधिक से अधिक सांत्वना देती है, वही ईश्वर है।

महात्मा गांधी का हिन्दू धर्म से तात्पर्य था अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य की खोज। सत्य की अथक खोज का ही नाम हिन्दू धर्म है। यदि आज वह मृत प्राय, निष्क्रिय अथवा विकासशील नहीं रह गया है तो इसलिए कि हम थककर बैठ गए हैं। ज्यों ही यह थकावट दूर होगी, त्यों ही हिन्दू धर्म संसार पर ऐसे प्रखर तेज के साथ छा जाएगा जैसा कदाचित पहले कभी नहीं हुआ।

धार्मिक जीवन में वे गुरु के महत्व को स्वीकार करते थे, किन्तु शरीरधारी अपूर्ण व्यक्ति को वे गुरु पद पर प्रतिष्ठापित करने से मना करते थे। महात्मा गांधी जब स्वयं अपने स्थितप्रज्ञ गुरु के स्वरूप का वर्णन करते हैं कि मेरा गुरु कैसा हो, तो ये सारे विलक्षण लक्षण सिर्फ महात्मा गांधी में ही दिखाई पड़ते हैं। शायद इसी कारण वे अपने आपको अपना ही शिष्य मानते थे। क्योंकि पूर्ण की प्यास पूर्ण से ही मिट सकती है।

आज महात्मा गांधी के इस देश में धार्मिक पाखंड का नंगा नृत्य हो रहा है। अधिकांश धर्मगुरुओं ने पाखंड और अंधविश्वास का जाल फैला रखा है। ऐसा धार्मिक व्यापार जो धनिकों से लेकर गरीबों तक, विद्वानों से लेकर अनपढ़ों तक की मूढ़ता को और भी मूढ़ बनाकर शोषण कर रहा है और धन ऐसे लोगों के हाथों में जमा हो रहा है जो धर्म के नाम पर ऐय्याशी कर रहे हैं।

महात्मा गांधी का मानना था कि कोई भी चीज कितनी ही अच्छी क्यों न हो, वहाँ से कदापि न लो जहाँ पाखण्ड हो।

महात्मा गांधी ने अपने द्वारा श्रीमद्भगवत गीता की लिखी गई टीका का नाम अनासक्ति योग रखा है और स्वयं अपने जीवन में पूर्ण अनासक्त बन गए।

1919 ई. में महात्मा गांधी मृत्यु के द्वार पर आ खड़े हुए थे। उन्हें असह्य शारीरिक पीड़ा झेलनी पड़ी, किन्तु शारीरिक कष्ट के प्रति उनका भाव एक तटस्थ दर्शक जैसा था। कष्ट शरीर तक ही सीमित रहा। उसकी छाया, उनकी आंतरिक शांति और स्वस्थता को न छू सकी। शारीरिक दुर्बलता की इस परिस्थिति में उनका मन कुछ और अधिक चिंतन प्रवीण हो गया।

वे स्वयं तो अनासक्त थे ही, दूसरों को भी अनासक्ति का गुर सिखाते रहते थे। उनका कहना था कि अच्छी खबर हो या बुरी उसे अपने ऊपर से यों गुजर जाने दो जैसे बत्तख की पीठ पर से पानी फिसल जाता है। जब हम कोई खबर सुनें, तो हमारा कर्त्तव्य मात्र इतना पता करना है कि क्या कुछ करने की जरूरत है और यदि हो, तो हम अपने आपको प्रकृति के हाथ का एक निमित्त मानकर उसे कर दें।

वैसे उनकी अनासक्ति का मूल आधार ईश्वर में पूर्ण समर्पण था। जब सब कुछ उसी की इच्छा पर होता है, अपनी मर्जी से एक साँस भी अधिक नहीं ले सकता तो किस बलबूते पर किसी काम को करने का दावा किया जाय।

महात्मा गांधी ईश्वर में आस्था या समर्पण रखने के लिए कहते थे, किन्तु इसका वे यह अनर्थ करने से मना करते थे कि ऐसा नहीं कि जो लोग ईश्वर में आस्था रखते हैं, उन्हें ऐसा कोई पट्टा लिख दिया गया है कि वे सदा सुख का अनुभव करते रहेंगे।

उनका तो यह मानना था कि यदि किसी की या मेरी मृत्यु होती है, तो इस विनाश में भी उस ईश्वर का प्रेम ही है, भले ही हम नहीं समझ पा रहे हों।

समाज में कुछ कुरीतियों का विरोध करने की वजह से महात्मा गांधी को कट्टर सनातनियों का काफी विरोध झेलना पड़ा। वे लोग उनसे वैर और दुश्मनी भी रखने लगे। हालाँकि स्वयं महात्मा गांधी को आजीवन कभी भी किसी व्यक्ति से किसी तरह का वैरभाव नहीं रहा।

उन कट्टर सनातनियों के अनुसार महात्मा गांधी अस्पृश्यता उन्मूलन और स्त्री को घरों से बाहर करके हिन्दू–धर्म को नष्ट कर रहे थे।

हालाँकि आज महात्मा गांधी के अथक प्रयास की वजह से अस्पृश्यता लगभग दम तोड़ चुकी है और स्त्रियाँ इतनी जाग चुकी हैं कि इन कट्टर सनातनियों को भी उन सब बातों को दुहराने पर हजार बार सोचना होगा। क्योंकि पद–दलित शोषित जाति और लिंग का दमन करना तो किसी के हाथ संभव है किन्तु जागृत जाति और लिंग को अपमानित करने के लिए हजार बार सोचना पड़ता है।

धर्मशास्त्रों के प्रति भी महात्मा गांधी की विस्तृत सोच थी। वे उस तरह के पोंगा पंडित नहीं थे, न लकीर के फकीर ही थे कि धर्मग्रंथों में जो भी लिखा हुआ है उसे ही धर्म मानने के लिए मजबूर हों।

श्रीमद्भगवत गीता को वे एक निर्दोष ग्रंथ, मानते थे कि यह सर्वकालिक है। महात्मा गांधी के अनुसार गीता में हिंसा का लेश मात्र भी नहीं है क्योंकि गीता का महानायक अर्जुन को उपदेश देता है कि राग–द्वेष से रहित होकर, क्रोध रहित, शत्रु–मित्र में समान भाव रखकर युद्ध करे, तो क्या यह संभव है कि ऐसा व्यक्ति किसी की हत्या कर सकता है ?

धर्म शास्त्र की ऐसी बातें जो संवेदनहीन हो, नैतिकता के विरूद्ध हो, मानव–हृदय को किसी भी तरह से ठेस पहुँचाती हो, तो ऐसी बातों को वे धर्म मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे।

महात्मा गांधी का मानना था कि हमारे ऋषि, मुनि, पैगम्बर सब दिव्य पुरुष थे और उनमें न्यूटन से भी अधिक बुद्धि की प्रखरता थी। उन्होंने जिन धर्म ग्रंथों की रचना की उन्हें अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, समझा और परखा। किन्तु उनसे हमारी पीढ़ी तक आने में उन धर्म ग्रंथों को कितने हाथों से गुज़रकर आना पड़ा। कुछ वैसे हाथों में भी ये ग्रंथ पड़े, जो संकीर्ण मानसिकता के व्यक्ति थे। उन लोगों ने अपनी मानसिकता के तहत और तत्कालीन परिस्थितिनुसार अपनी शासन–व्यवस्था चलाने के लिए कुछ ऐसी बातों को भी शामिल किया,

जो संवेदनहीनता की समस्त सीमाओं को समाप्त करता हुआ प्रतीत होता है। भला जिन दिव्य महापुरुषों ने ऐसे अनुपम और दिव्य ग्रंथों को लिपिबद्ध किया, वे ऐसे संवेदनहीन कैसे हो सकते हैं ?

अब जरा गौर करें कि रजस्वला होने के पहले लड़की का विवाह कर देना चाहिए, ये धर्मग्रंथ के वाक्य हैं–आज कौन से सनातनी इस बात का समर्थन करेंगे। किन्तु समय से आगे सोचने वाला ही तो महापुरुष होता है। जिस मनुष्य में विनय, सौजन्य, शांति, दया, दूसरे का मत कितना ही भूल भरा क्यों न हो, उसके प्रति आदर, काम को समझने की शक्ति, परिणाम–दर्शिता, त्रिकाल बाधित सत्य के प्रति दृढ़ भक्ति भाव, कार्य करने की निश्चयात्मक बुद्धि आदि गुण होते हैं, उन्हें ही महापुरुष कहा जा सकता है।

लेकिन हिन्दू धर्म के इस महान अनुयायी को, जिसे पूरी दुनिया सभी मानवों में श्रेष्ठ मानती है और उस हिसाब से सर्वश्रेष्ठ हिन्दू भी, कट्टर सनातनी हिन्दू आज भी अपनी कट्टरता से समाज को सैकड़ों साल पीछे ले जाने की सोच के लिए दृष्टिकोण बदलने की बात क्यों नहीं सोचता ? क्यों अपनी हठधर्मिता का शिकार बनाकर हिन्दू धर्म को विश्वधर्म बनने से रोक रहा है ?

यदि हम आज भी धर्मग्रंथों की बातों को अक्षरशः मानें तो हमें अपनी बेटियों का विवाह तेरह वर्ष से भी कम उम्र में करने का पाप करना होगा। क्या यह धर्म है ? यदि नहीं, तो आज भी बहुत सारे अंधविश्वास और कुरीतियाँ हैं, जिन्हें हमलोग इतना स्पष्ट नहीं देख पा रहे हैं, जितनी इस कुरीति को देख पा रहे हैं। यह जरूरी नहीं कि आने वाली आहट को सब पहचाने, जरूरी नहीं कि अगले कदम को सब देख लें, किन्तु ईश्वर की कृपा से यदि कोई मसीहा या महापुरुष हमारे बीच आया और उसने राह दिखाया और यदि हमने उसकी बात अनसुनी की, तो सैकड़ों वर्ष पीछे चले जाएँगे।

ऐसी ही धर्मान्धता, संकीर्णता, कट्टरता के पागलपन के फलस्वरूप हमने भारत के ईसा को भी गोलियों का शिकार बना दिया।

किन्तु गांधी सिर्फ एक व्यक्ति नहीं एक विचार हैं और शरीर को तो एक दिन जाना ही है और स्वयं गांधी सशरीर होते तो धर्मान्धता में जलने वाले लोगों से भी उतना ही प्रेम करते, अपने पर गोली चलाने वाले से भी उतना ही प्रेम करते, क्योंकि उन्होंने नफरत और घृणा करना सीखा ही नहीं था। महात्मा गांधी स्वयं ईश्वर के प्रति इस बात के लिए बहुत ज्यादा शुक्रगुज़ार थे कि उनके मन में आज तक किसी व्यक्ति के प्रति रत्ती भर भी घृणा का भाव नहीं आया चाहे उसके हाथों उन्हें कितने ही कटु अपमान सहने पड़े हों, या कितने भी शारीरिक प्रहार झेलने पड़े हों।

तो इस विचारधारा से, जो शाश्वत हैं, सत्य है, सनातन है, जहाँ सिर्फ प्रेम है उसे आगे बढ़कर अपनाने से शायद हम उस सलीब को ढोने से बच जाएँ जिसे हमने अपनी ही नादानियों के कारण बनाया है।

गांधी जी की जीवनधारा अन्तरात्मा से काफी प्रेरित रहती थी। वे अन्तरात्मा की आवाज को ईश्वर की ही आवाज मानते थे। उनका मानना था कि अन्तरात्मा की आवाज कोई भी व्यक्ति सुन सकता है, यदि वह सत्य और अहिंसा का पालन करे तथा अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर दे।

इक्कीस दिनों का उपवास करना उनके लिए जीवन–मरण का प्रश्न था, वे शारीरिक रूप से काफी कमजोर थे। उनके सहयोगी इसके विरूद्ध थे। पूरा देश उनसे उपवास न करने की प्रार्थना कर रहा था, किन्तु गांधी जी डटे रहे, क्योंकि अन्तरात्मा की आवाज को वे कैसे नकार सकते थे ?

महात्मा गांधी का प्रत्येक छोटा या बड़ा कार्य अन्तरात्मा से प्रेरित या ईश्वर से प्रेरित होता था। इसी से गांधी का विरोध करते हुए भी ऐनीवेसेन्ट ने यह माना कि हालाँकि मैं यह जानती हूँ कि इनका यह कार्य भी ईश्वर से प्रेरित है, क्योंकि वे कोई भी कार्य बिना उसकी प्रेरणा से नहीं करते। बात ऐसी हुई थी कि श्रीमती वेसेंट का गांधी जी से बनारस की सभा में राजा–महाराजाओं के सामने अंग्रेजों के बोरिया

बिस्तर समेटने के बारे में कहने से विरोध था। क्योंकि वे मानती थीं कि इससे उन राजाओं को, जिन्हें निमंत्रित करके बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में बुलाया गया था, हानि पहुँच सकती थी। उन्होंने गांधी जी का इस बात का विरोध किया किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा कि गांधी का मार्गदर्शन उनके अंतर में स्थित उनका प्रभु करता है। ऐनीवेसेंट का मानना था कि सिर्फ साहित्यिक दृष्टिकोण को छोड़कर गांधी टालस्टाय से कहीं श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनकी नजर में लोगों के लिए जो कष्ट गांधी ने उठाया टालस्टाय ने कभी नहीं उठाया। लेकिन टालस्टाय दूर रहते हैं, इससे आंग्ल भारतीय उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, चूँकि गांधी समीप हैं, इससे उन्हें गाली भी दी जाती है।

क्या अभी भी हम इस दौर से नहीं निकले हैं, क्या अभी भी हम उन्हें समीपस्थ मानकर उनके दिव्य जीवन और दिव्य व्यक्तित्व का खंडन करने का प्रयास कर ही रहे हैं ? क्या आने वाली पीढ़ियाँ हमें इस गलती के लिए माफ कर पाएँगी। क्योंकि हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि हम अनजान थे ?

गांधी जी अपने जीवन में नैतिकता को बहुत ऊँचा स्थान देते थे, नैतिकता विहीन जीवन उनकी दृष्टि में बेकार था किन्तु साथ ही वे यह भी मानते थे कि कोई व्यक्ति कितना ही नैतिक क्यों न हो परन्तु ईश्वर में आस्था नहीं रखता तो वह सत्याग्रही नहीं हो सकता। क्योंकि गांधी जी की नज़रों में ऐसे व्यक्ति की नैतिकता बालू की भीत पर खड़ी है।

मंदिर और मूर्तिपूजा की कुरीतियाँ उन्हें नापसंद थीं, किन्तु उन्हें इसमें अपार श्रद्धा भी थी। वे स्वयं जब मंदिरों में गए तो न जाने कितनी ही बार उनकी आँखों में आँसू डबडबाये उनकी वाणी अवरूद्ध हो गई और मूर्ति के सामने उनका पूरा शरीर पुलकायमान हो गया। अपार श्रद्धा से उनका मन उसमें समाहित हो गया। वैसे शांतचित्त महात्मा गांधी को भीड़–भाड़ और बाहरी ताम–झाम से विकर्षण था। इसी से वे अपने हृदयस्थ राम का ज्यादा ध्यान करते थे। किन्तु

ज्ञानी भक्त गांधी उन सीधे–साधे श्रद्धालु भक्तों की इस बात के लिए निम्न श्रेणी का व्यक्ति नहीं मानते थे कि वह पेड़ों–पहाड़ों और नदियों का पूजन करता है, बल्कि वे तो यह कहते थे कि वो ईश्वर क्या जो पेड़, पहाड़ और नदी में नहीं हो सकता।

वे यह मानते थे कि सभी हिन्दू किसी मूर्ति को ही भगवान नहीं मानते, बल्कि जैसे अन्य धर्म में मस्जिद, गुरुग्रंथ, बाईबिल, गिरजे हैं, हिन्दू धर्म में वैसे ही या उनसे बढ़कर भी एक और चीज हैं–मूर्ति।

मृत्यु के बारे में महात्मा गांधी की सोच थी–समाप्त नहीं हो जाना। गांधी श्रीमद्भगवत गीता पढ़ते नहीं, जीते थे। आत्मा अमर है इसे वे महसूस करते थे। इसी से अपने इष्ट मित्रों की मृत्यु के बाद वे उनका विछोह ज्यादा महसूस नहीं करते थे। बल्कि वे हैं, ऐसा महसूस करते थे।

सिर्फ मृत्यु ही नहीं जीवन काल में भी मिलने के लिए वे शरीर का होना जरूरी नहीं मानते थे। गांधी जी अपने सहयोगियों–अनुयायियों से शरीर से रूबरू होना जरूरी नहीं मानते थे। उनके लिए शरीर से ज्यादा महत्व आत्मा का था। इसी से वे किसी से मिलने के लिए शरीर का होना अति आवश्यक नहीं समझते थे। जेल में सिर्फ पारिवारिक सदस्यों से मिलने की अनुमति प्राप्त होने पर उन्होंने मिलने से मना कर दिया। क्योंकि उनके लिए सभी लोग उनके परिवार के ही थे। उन्होंने आत्मा से आत्मा के मिलन को कम नहीं माना और कहा कि इस सुखद संपर्क को पृथ्वी की कोई शक्ति नहीं रोक सकती।

महात्मा गांधी के जीवन का लक्ष्य मोक्ष था। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में एक बार जब वे मृत्यु के द्वार पर अपने को खड़े देख रहे थे, तब उन्हें लगा था कि यदि आज मेरी मृत्यु हो जाए तो मुझे मोक्ष की प्राप्ति तो नहीं होगी। लेकिन जिस तरह से ईश्वर की कृपा से आगे बढ़ रहा हूँ अगले जन्म में मोक्ष की प्राप्ति जरूर हो जाएगी।

मृत्यु गांधी जी के लिए ईश्वरेच्छा थी–ईश्वर के द्वारा दिया गया उपहार स्वरूप वह समय, जिसे वे अपनी मोक्ष प्राप्ति के साधन में लगा सकते थे। गांधी जी को विश्वास हो गया था कि मोक्ष के लिए

अथक प्रयास करना ही हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। बस फिर क्या था–उनका तप–साधन और भी बढ़ गया। किंतु उनके तप–साधन का मतलब यह नहीं था कि हिमालय की कंदराओं में जा बैठे या सिरजनहार की सृष्टि से बहुत दूर हो जाए।

उन्होंने अपने जीवन को मोक्ष के सभी साधनों की कसौटियों पर कसना शुरू कर दिया। सत्य उनके लिए साधन नहीं साध्य ही था, बल्कि सत्य ही उनका ईश्वर था और उस सत्य स्वरूप को पाने के लिए सत्य ही मार्ग भी था। महात्मा गांधी मानते थे कि ईश्वर सत्यस्वरूप है और यदि उससे मिलना है, उसके सान्निध्य में जाना है, उसे पूजना है या उसके प्रेम में डूबना है, तो स्वयं सत्य पर चले बिना, स्वयं सत्य को आचरण में लाए बिना, सत्य स्वरूप या सत्यानारायण से कैसे साक्षात्कार किया जा सकता है? गंगाजल में किसी और जल को मिलाने से वह उसमें विलीन हो जाएगा, मिल जाएगा। किन्तु यदि जल में तेल मिलाया गया तो वह अलग तैरता रहेगा। क्योंकि दोनो दो तत्व हैं, इसी से यदि उसे पाना है तो तत्वतः एक बनना ही पड़ेगा। यदि दो तत्व रहे और जीवन भर सत्य से दूर रहे, तो सत्यस्वरूप से मिलन असंभव है।

मोक्ष का मतलब है मुक्त हो जाना, जीवन में ही मुक्त–जीवनमुक्त। तो कौन होगा जीवनमुक्त? जो राग, द्वेष, क्रोध आदि द्वन्द्वों से परे हो गया है, तो कौन है जो इन द्वन्दों से परे हो गया है–केवल वह जिसके जीवन में पूर्ण अहिंसा है। पूर्ण अहिंसक ही मोक्ष पाने का अधिकारी है, इसी से अहिंसा की धारदार कसौटी पर वे अपने को हमेशा कसते रहते थे।

ब्रह्मचर्य को मोक्ष पाने का तीसरा और सत्य और अहिंसा से थोड़ा भी न्यून साधन वे नहीं मानते थे। लेकिन उनका ब्रह्मचर्य अभी के तथाकथित धार्मिक नेताओं तथा प्राचीन संकुचित दृष्टिकोण से अलग था। उनका ब्रह्मचर्य स्त्रियों को अपमानित नहीं करता था और न उसे ब्रह्मचर्य भंग करने की वस्तु मानकर उसका तिरस्कार ही करता था।

उनकी दृष्टि में जो ब्रह्मचर्य स्त्रियों के दर्शन और स्पर्श से खंडित हो जाता है अवश्य ही वह ब्रह्मचर्य नहीं हो सकता भले ही वह कुछ और हो। उनकी दृष्टि में मोक्ष प्राप्ति का साधन वह ब्रह्मचर्य है जो अविकारी हो गया है, जो पूर्ण यौवन, पूर्ण सुन्दरी को भी सिर्फ देखकर ही नहीं, उसे स्पर्श करके भी, यदि उस निर्वस्त्रा स्त्री के साथ सोना भी पड़ जाए तो उसके मन में किंचित विकार पैदा न हो, तब है वह ब्रह्मचर्य।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन के अंतिम अध्याय में अनुयायियों के विरोध के बावजूद अपनी परीक्षा ली और सफल होने के बाद ही संतोष किया कि अब इस अविकारी गांधी को मोक्ष मिलने से कोई नहीं रोक सकेगा।

कितने ही लोगों को मैने कहते सुना है कि इतने बुढ़ापे में भला किसके मन में वासना होती है? ऐसा बोलने वाले वे लोग होते हैं, जिन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में कभी भी अपने अंतर में झाँका ही नहीं, बर्हिमुखी होने की वजह से दूसरों को ही देखता रहा। उसे मोक्ष चाहिए नहीं, उसे सत्यस्वरूप का साक्षात्कार करना नहीं है। जिन्दगी की कसौटी क्या होती है उससे बिल्कुल अनजान है वह। उसके लिए साधना दुधारी तलवार नहीं है जिसपर सँभल–सँभल कर चलना होता है। अविकारी शब्द को समझना और जीना क्या है? उस बेचारे को नहीं मालूम।

महात्मा गांधी का अनुभव था कि जैसे–जैसे हम सत्य के नजदीक जाने लगते हैं, वह हमसे और दूर जाता हुआ प्रतीत होता है और जैसे–जैसे हम ईश्वर की ओर कदम बढ़ाते जाते हैं, हमें अपनी तुच्छता का भान होता जाता है। मन का अहंकार शून्यता में परिवर्तित हो जाता है। सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों ने अपने को कुटिल, खल, कामी कहा। इसकी वजह यही है कि वे उस विश्व नियन्ता अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के नायक, उस सत्यस्वरूप से साक्षात्कार के बिल्कुल करीब पहुँच जाते हैं, तो उन्हें अपनी तुच्छता का भान और अधिक तीव्रता से होने लगता है।

महात्मा गांधी को एक और शब्द से बहुत प्रेम था, वह था ऐच्छिक गरीबी। वे अपने पुत्रों को भी हमेशा कहते थे कि हमलोगों को गरीब बनकर जीना है। उनकी सोच थी कि चैतन्य, कबीर, रामकृष्ण आदि महापुरुषों ने ऐच्छिक गरीबी अपनायी थी। यदि अमीरी अच्छी चीज होती तो महापुरुषों ने उसे क्यों त्याज्य बताया? उनकी इच्छा तो सुदामा और नरसी मेहता की गरीबी से होड़ लेने की थी। गांधी जी का मानना था कि पूर्ण अहिंसक वैसा व्यक्ति हो ही नहीं सकता जो परिग्रही हो।

गांधी के संपूर्ण जीवन दर्शन के चिंतन के पश्चात् वे सिर्फ एक विशुद्ध, आध्यात्मिक महापुरुष नजर आते हैं। ऐसा आध्यात्मिक पुरुष जिसके शरीर ने वस्त्र तो तत्कालीन भारत के आम आदमी का पहना, लेकिन जिसकी आत्मा इतनी उन्नत थी कि सभी धर्मों की अच्छाइयों ने अपने से उन्हें आच्छादित कर रखा था।

रोम्याँ रोला गांधी जी के बारे में लिखते हैं कि क्षमा और प्रेम के दर्शन को ईसाई भी जहाँ तक नहीं ले जा सके वहाँ उसे गांधी ने पहुँचा दिया है।

मनीषीलेखक रोम्या रोला ने गांधी को देखा और महसूस किया कि वे प्रसन्न केवल एकांत में रहते हैं और सुनना चाहते हैं नीरव निभृत स्वर की वाणी।

महात्मा गांधी को दुनिया भर की जय–जयकार से बहुत परेशानी होती थी। वे आनन्द में तभी होते थे जब अपने हृदयस्थ प्रभु के साथ होते थे या उस प्रभु की सृष्टि की सेवा में होते थे।

महात्मा गांधी को अपनी जिंदगी में प्रयास नहीं करना पड़ा कि कोई भी विचार जिसे वे उस समय नहीं लाना चाहते हों, उनके मन के विरूद्ध आ जाए। विचार उनकी इतनी आज्ञाकारिणी थी, जिसे वे जहाँ, जिस रूप में चाहते, वहीं उसी रूप में आती। उन्हें निर्विचार होने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता था। यह उनका सहज स्वरूप था।

गांधी मुमुक्षु थे। मोक्ष के प्रति अत्यन्त आग्रहशील थे, किन्तु साथ ही साथ वे एक उच्च कोटि के भावुक भक्त भी थे। द्रौपदी की प्रार्थना–

"गोविन्द! द्वारिकावासिन! कृष्ण! गोपीजनप्रिय
कौरवेः परिभूतां माम् कि न जानसि केशव।

सुनकर या पढ़कर उनके आँसू थमते नहीं थे। उनका पूरा चेहरा आँसुओं से सराबोर हो जाता।

सत्यान्वेषी, अहिंसक, ब्रह्मचारी, अपरिग्रही, अनासक्त, मुमुक्षु, विनम्रता की प्रतिमूर्ति, ज्ञानी, पूर्ण समर्पित भक्त, अजपा जापक, अभय जैसे लक्षणों से युक्त महात्मा गांधी दैवीय संपदा से युक्त स्थितप्रज्ञ योगी नजर आते हैं।

महात्मा गांधी के जीवन के विभिन्न रूपों में प्रबलतम पक्ष है–उनका आध्यात्मिक महापुरुष का पक्ष। किन्तु यदि मानव जाति अपनी अज्ञानता के कारण उनके इस रूप की उपेक्षा कर दे तो यह संपूर्ण आध्यात्मिक जगत के लिए बहुत बड़ी त्रासदी होगी।

गीता के महानायक श्रीकृष्ण ने आध्यात्मिक पुरुष के लिए एक शब्द का प्रयोग किया 'स्थित प्रज्ञ'। उन्होंने स्थितप्रज्ञ के जितने लक्षण बताये। महात्मा गांधी ने उन लक्षणों को अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया कि ये सिर्फ ग्रंथों में पढ़ने और रहने की बातें नहीं बल्कि इसे आचरण में उतारना भी संभव है।

आज धार्मिक जगत में चारों ओर पाखंड, अंधविश्वास, आडम्बर आदि का बोलबाला है। बाह्य वस्तु ही सब कुछ होती जा रही है। अंतर में झाँकने की बात भी नहीं हो रही है। ऐसे समय में आशा की एक किरण के रूप में महात्मा गांधी की आध्यात्मिक चेतना दिखाई दे रही है। जिसका अनुकरण और अनुसरण करके व्यक्ति आत्मिक रूप से प्रबल होकर स्वयं स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

ईश्वर

ईश्वर की गति न्यारी और बुद्धि से परे है, हमें यह मानकर चलना चाहिए कि मनुष्य की कोई विसात नहीं, परमात्मा की ही मर्जी सब कुछ है।

हमारी इच्छाएँ पवित्र से पवित्र होने पर भी पूरी नहीं होती–इसमें भी एक गूढ़ अर्थ है। हमारी इच्छा नहीं, बल्कि ईश्वर की इच्छा पूरी होगी।

सबसे बड़ी परीक्षा तो तब होती है, जब हमारे पवित्र उद्देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में बाधाएँ पहुँचाई जाती हैं।

मैं बारीकी से देख सकता हूँ कि प्रकृति जैसा कोई दयालु नहीं है। प्रकृति ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है और भूल के लिए प्रेमपूर्ण दण्ड दिए ही जा सकते है।

मच्छरों, मक्खियों और जीवाणुओं की आत्मा नहीं होती कहकर हमें परमात्मा के कार्यक्षेत्र को सीमित करने का क्या अधिकार है? क्या इस ब्रह्माण्ड में असंख्य सूर्य और ग्रह नहीं है?

ईश्वर वाकई एक और अद्वितीय है। वह अगम, अगोचर और मानव जाति के अधिकांश के लिए अज्ञात है। वह सर्वव्यापी है। वह बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है। वह निराकार और अखंड है। वह अजन्मा है, उसके न माता हैं, न पिता हैं, न संतान–फिर भी वह माता–पिता, पत्नी या संतान के रूप में पूजा ग्रहण करता है। यहाँ तक कि वह काष्ठ और पाषाण के रूप में भी पूजा अर्चना को अंगीकार करता है, हालाँकि वह न तो काष्ठ है न पाषाण ही। वह हाथ नहीं आता–पकड़ में आता दिखता है और निकल जाता है। अगर हम उसे पहचान सकें तो वह हमारे बिल्कुल नजदीक है। पर यदि हम उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव न करना

चाहें तो वह हमसे अत्यन्त दूर है। वेद में अनेक देवता हैं। दूसरे धर्म ग्रंथों में देवदूत आदि दूसरे नाम देते हैं। पर वेद एक ही ईश्वर का गुणगान करते हैं।

यदि हम ईश्वर की व्याख्याएँ अपनी मर्जी के मुताबिक करें, तो उसकी उतनी ही व्याख्याएँ होंगी, जितने कि स्त्री या पुरूष होंगे। लेकिन इन जुदा–जुदा व्याख्याओं के मूल में भी एक किस्म का अभ्रान्त सादृश्य होगा, क्योंकि मूल तो सबका एक ही है। ईश्वर तो एक अनिर्वचनीय वस्तु है। जिसका हम सब अनुभव तो करते हैं, लेकिन जिसे हम जानते नहीं।

मेरा ईश्वर तो सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का मूल है। फिर भी वह इन सबसे परे है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह तो नास्तिको की नास्तिकता भी है। क्योंकि वह अपने अमर्यादित प्रेम से उन्हें भी जिन्दा रहने देता है। वह हृदय को देखने वाला है। वह बुद्धि और वाणी से परे है। हम स्वयं जितना अपने को जानते हैं, उससे कहीं अधिक वह हमें और हमारे दिलों को जानता है। जैसा हम कहते हैं, वैसा ही वह हमें नहीं मानता। क्योंकि वह जानता है कि जो हम अक्सर जबान से कहते हैं, अक्सर वही हमारा भाव नहीं होता और कुछ लोग ऐसा जानबूझ कर करते है, तो कुछ अनजाने ही। ईश्वर उन लोगों के लिए एक व्यक्ति ही है जो उसे व्यक्ति रूप में हाजिर देखना चाहते हैं, जो उसका स्पर्श करना चाहते हैं, उनके लिए वह साकार है। वह पवित्र से पवित्र तत्व है। जिन्हें उसमें श्रद्धा है, उन्हीं के लिए उसका अस्तित्व है। विभिन्न लोगों के लिए उसके विभिन्न रूप हैं। वह हममें व्याप्त है और फिर भी हमसे परे है।

अन्तरात्मा तो निश्चय ही ईश्वर शब्द का एक बड़ा अपर्याप्त और जबर्दस्ती बनाया हुआ पर्याय है। उसके नाम पर भयंकर अनीति युक्त काम किए गए हैं और अमानुष, अत्याचार भी हुए हैं। लेकिन इससे उसका अस्तित्व नहीं मिट सकता। वह बड़ा सहनशील है, वह

बड़ा धैर्यवान है, लेकिन वह रूद्र भी है। उसका व्यक्तित्व इस दुनियाँ और भविष्य की दुनियाँ में भी सबसे अधिक काम करने वाली ताकत है। उसके सामने अज्ञान की दलील नहीं चल सकती। लेकिन यह सब होने पर भी वह बड़ा रहमदिल है, क्योंकि वह हमें पश्चाताप करने के लिए मौका देता है। दुनियाँ में वह सबसे बड़ा प्रजातंत्रवादी है, क्योंकि वह बुरे भले को पसंद करने के लिए हमें स्वतंत्र छोड़ देता है। वह सबसे बड़ा जालिम है, क्योंकि अक्सर हमारे मुँह तक आए कौर छीन लेता है और इच्छा स्वातन्त्रय की ओट में छूट लेने की बहुत कम गुंजाइश देता है और हमारी लाचारी पर हँसता है। यह सब उसकी लीला है, उसकी माया है। हम कुछ नहीं हैं, सिर्फ वही है, और अगर हम हों, तो हमें सदा उसके गुणों का गान करना चाहिए। उसकी ही वंशी की धुन पर हम नाचें।

व्यक्ति ज्ञान की शोध में है पर ज्यों–ज्यों वह ज्ञान को खोजता है त्यों–त्यों उसे ज्ञान दूर भागता हुआ दिखाई देता है। ईश्वर को बुद्धि के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसके लिए वह बुद्धि का प्रयोग कर रहा है। फिर उसका फल देखने के लिए भी बहुत व्याकुल है। कर्म के फल की आशा न रखने का अर्थ यह नहीं कि फल मिलेगा ही नहीं, बल्कि कर्म तो कोई भी निष्फल नहीं जाता और संसार की विचित्र रचना ऐसी रहस्यमयी है कि यही समझ में नहीं आता कि इस वृक्ष का तना कौन सा है और शाखा कौन सी। तब फिर अनेक मुनष्यों के अनेक कर्मो के समुदाय के सम्मिलित फल में से एक व्यक्ति के कर्म के फल को कौन छाँट सकता है ? और हमें इसका अधिकार भी क्या है? एक राजा के सिपाही को भी अपने किए का फल जानने का अधिकार नहीं होता है तो फिर हमें, जो कि इस संसार के सिपाही हैं, अपने कर्म के फल को जानकर क्या करना है ? क्या यही ज्ञान काफी नहीं है कि कर्म का फल अवश्य मिलता है।

ईश्वर कर्म का संपूर्ण योगफल है जो मनुष्य को उचित कर्म की प्रेरणा देता है, वह ईश्वर है। जो कुछ भी जीवित है, उसका संपूर्ण

योगफल ईश्वर है। जो मनुष्य को भाग्य की कठपुतली मात्र बनाता है, वह ईश्वर है। जो सभी विपत्तियों में दृढ़ रखता है, वह ईश्वर है।

ईश्वर भजन का अर्थ है–उसके गुण का गान, प्रार्थना का अर्थ है अपनी अयोग्यता, अपनी अशक्ति की स्वीकृति। ईश्वर के सहस्र अर्थात अनेक नाम है। अथवा यों कहिए कि वह नाम हीन है, जो नाम, हमको अच्छा मालूम हो, उसी नाम से हम ईश्वर को भजें, उसकी प्रार्थना करें। कोई उसे राम के नाम से पहचानते हैं, तो कोई कृष्ण के नाम से, कोई उसे रहीम कहता है, तो कोई गॉड। ये सभी एक ही चैतन्य को भजते हैं। परंतु जिस प्रकार एक ही तरह का भोजन सबको नहीं रूचता, उसी तरह एक नाम भी सबको नहीं रूचता। जिसका जिससे संपर्क होता है, उसी नाम से वह ईश्वर को पहचानता है और वह अन्तर्यामी होने के कारण हमारे हृदय के भाव को पहचान कर हमारी योग्यता के अनुसार हमारी सुनता है।

ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो फिर मनुष्य के हाथ में करने को बाकी ही क्या रह जाता है ? यह प्रश्न अनादि है और सदा उठता ही रहेगा। लेकिन इसका जबाव भी तो सवाल के अंदर है, क्योंकि सवाल पूछने की शक्ति भी तो ईश्वर की दी हुई है। जिस प्रकार हमलोग अपने किन्हीं नियमों के अधीन चलते हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी किसी नियम के अनुसार चलता है। हमारे नियम, कानून और ज्ञान अपूर्ण होते हैं, इसलिए हमलोग अपने कानूनों की सविनय अवज्ञा (भंग) भी कर सकते हैं। लेकिन ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है और इसलिए वह अपने कानून को कभी भंग नहीं करता। उसके कानून में न कोई संशोधन होता है, न कोई परिवर्त्तन। उसके नियम कानून अटल हैं। उसने हमें अनेक विचार करने की और उसमें से कुछ पंसद करने की, अच्छा बुरा समझने की शक्ति दी है। हमारी स्वतंत्रता इसी बात में है। यह स्वतंत्रता बहुत ही कम है। कम होने पर भी यह इतनी अवश्य है कि मनुष्य उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। दैव और पुरूषार्थ का युग्म कभी एक

दूसरे का साथ नहीं छोड़ता। लेकिन दैव, मुक्ति के पथ पर चलने वालों के कभी आड़े नहीं आता है।

यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूॅ। लेकिन द्वैतवाद का समर्थन भी करता हूॅ। संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है इसीलिए सृष्टि असत्य–अस्तित्व रहित–कही जाती है। लेकिन परिवर्त्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे उसका अपना स्वरूप कह सकते हैं। उस रूप में उसकी सत्ता है, यह भी हम देख सकते हैं। इसलिए वह सत्य भी है। इस कारण उसे सत्यासत्य कहें, तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं।

मैं ईश्वर को जिस रूप में मानता हूँ उसी रूप में उसका वर्णन करता हूॅ। मैं तो ईश्वर को कर्त्ता–अकर्त्ता मानता हूॅ। इसका उद्‌भव भी मेरे स्यादवाद से होता है। मैं जैनों के स्थान पर बैठकर उसका कर्तत्व सिद्ध करता हूँ और रामानुज के स्थान पर बैठकर अकर्तृत्व। हम सब अचित्य का चिंतन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं, और अज्ञेय को जानना चाहते हैं। इसलिए हमारी भाषा तोतली है, अपूर्ण है और कभी–कभी तो वक्र तक हो जाती है। इसलिए तो ब्रह्म के लिए वेदों ने अलौकिक शब्दों की रचना की और उसको नेति कहकर पुकारा है। यद्यपि वह नहीं है, फिर भी वह है। अस्ति, सत, सत्य , 0, 1, 11, ..., यह कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमें पैदा करने वाले माता–पिता हैं, और उनको भी पैदा करने वाले हैं... इसलिए सबको पैदा करने वाला भी एक है, यही मानना धर्म है। यदि वह नहीं है, तो हम भी नहीं हैं। इसीलिए हम सब उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, कृष्ण, राम, अल्ला, खुदा, दादा होरमज, जिहीवा, गाड, इत्यादि अनेक और अनन्त नामों से पुकारते हैं। वह एक है, अनेक है, अणु से भी छोटा है और हिमालय से भी बड़ा है, समुद्र के एक बिन्दु में भी समा सकता है और सात समुद्र मिलकर भी उसे अपने भीतर समाविष्ट न कर सके, इतना विशाल है वह। उसे जानने के लिए बुद्धि का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से परे है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है।

मेरी बुद्धि अनेक तर्क वितर्क कर सकती है और मैं किसी कट्टर नास्तिक से विवाद करने में हार भी सकता हूँ। फिर भी मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि से इतनी अधिक दौड़ती है कि समस्त संसार के विरोध करने पर भी मैं यही कहूँगा कि ईश्वर है और अवश्य है।

लेकिन जिसे ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना हो, उसे इंकार करने का अधिकार है। क्योंकि वह तो दयालु है रहीम है, रहमान है। वह कोई मिट्टी का बना हुआ राजा तो है नहीं, कि उसे अपनी सत्ता स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखनी पड़े। वह तो हमलोगों को स्वतंत्रता देता है, फिर भी केवल अपनी दया के बल से हमलोगों का शासन करता है। लेकिन हमलोगों में से यदि कोई उसका शासन नहीं मानता तो भी वह कहता है "खुशी से मेरा शासन न मानो, मेरा सूर्य तो तुम्हें भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसाएगा, मुझे अपनी सत्ता चलाने के लिए तुम पर बल प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे ईश्वर की सत्ता को वह भले ही न माने जो नादान हैं लेकिन मैं उसे मानने वाले करोड़ों बुद्धिमानों में से एक हूँ, इसलिए उसको सहस्र बार प्रणाम करने पर भी नहीं थकता।

मैं ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता हूँ, लेकिन जिस रूप में उसके साक्षात्कार की कल्पना करता हूँ उस रूप में नहीं बल्कि वह जैसा है, बिल्कुल उसी रूप में।

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता और न उसे सिद्ध करने की जरूरत है, ईश्वर तो है ही। अगर हम उसका अनुभव नहीं करते तो इसमें हमारा ही अकल्याण है। उसे अनुभव करने की शक्ति का अभाव, एक रोग है और वह किसी न किसी दिन दूर हो जाएगा—फिर हम उसे दूर करना चाहें या नहीं।

परमेश्वर के स्वरूप को बुद्धि के द्वारा जानकर उसे हृदयंगम करने के लिए ध्यान धरना तो जरूरी है। परमेश्वर निरंजन, निराकार और ध्यान से भी परे है। निर्गुण की साधना देह धारियों के लिए कठिन है। इसीलिए उन्हें सगुण—व्यक्त रूप का ध्यान धरना चाहिए।

यह कहना कि मैं ईश्वर को नहीं मानता बड़ा आसान है। क्योंकि ईश्वर के बारे में चाहे जो कुछ कहा जाए—उसको ईश्वर बिना सजा दिए, कहने की छूट देता है। वह तो हमारी कृतियों को देखता है। ईश्वर के बनाए हुए किसी भी कानून के खिलाफ काम करने से काम करने वाले को सजा जरूर मिलती है, लेकिन वह सजा, सजा के लिए नहीं बल्कि उसे शुद्ध करने वाली और सन्मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करने वाली होती है।

एक ऐसी अव्यक्त, अपरिभाषित, रहस्यमयी शक्ति अवश्य है जो विश्व के कण—कण में व्याप्त है। मुझे उसकी प्रतीति होती है। हालाँकि मैं उसे देख नहीं पाता। यही एक अदृश्य शक्ति है, जिसके प्रभाव का अनुभव तो होता है, पर वह किसी भी प्रमाण की पकड़ में नहीं आती। क्योंकि मैं अपनी इन्द्रियों के जरिए जिन चीजों को कर पाता हूँ, वह उन सबसे सर्वथा भिन्न है, वह अतीन्द्रिय है।

जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करना चाहते, वे अपने शरीर के सिवा और किसी वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

भला क्या दुनिया के सारे शास्त्र नानी की कहानियाँ ही है ? ऋषि पैगम्बरों की बात क्या हम नहीं मानेंगे ? चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, तुकाराम, ज्ञानदेव, रामदास, नानक, कबीर, तुलसीदास, विवेकानंद ने जो बातें कहीं, क्या उसका कुछ भी मूल्य नहीं है ? तुलसीदास ने जो बातें कहीं, क्या उसका कुछ भी मूल्य नहीं है ?

ईश्वर में विश्वास श्रद्धा पर ही अवलंबित है, जो बुद्धि से परे की वस्तु है। इसमें शक नहीं कि जिसे अनुभूति कहते हैं, उसके मूल में विश्वास ही होता है ।

आदमी कितना विचार करता है और भगवान उनमें से कितना पूरा करता है, उसे कोई नहीं जानता। हम तो उसके हाथ की कठपुतलियाँ है।

चूँकि सच्चा धर्म जीवन में और संसार में सबसे बड़ी चीज है, इसलिए इसी का सबसे अधिक दुरूपयोग किया गया है और जिन

लोगों ने उन शोषकों और शोषणों को तो देखा और वास्तविकता को नहीं देखा, उन्हें स्वभावतः इस वस्तु से ही अरूचि हो गई । पर धर्म तो आखिर व्यक्तिगत वस्तु है और वह भी हृदय की वस्तु है, फिर चाहे हम उसे किसी नाम से पुकारें। जो चीज मनुष्य की घोर ज्वालाओं के बीच अधिक से अधिक सांत्वना देती है, वही ईश्वर है।

जो व्यक्ति या भक्त ईश्वर के पास अहं लेकर जाता है, वह उसे नहीं मिलता। वह ऐसे व्यक्तियों का विश्वास नहीं करता, जो प्रार्थना में अपनी नाक जमीन पर रगड़ते हैं। वह नाक पर ऐसे निशानों को देखना नहीं चाहते। वह तो मनुष्य के मर्म को उसके समूचे अस्तित्व को आर—पार देख लेता है। कोई व्यक्ति चाहे अपनी नाक काटकर रख दे और उसे जमीन पर रगड़ता रहे पर ईश्वर ऐसे लोगों को भक्त के रूप में स्वीकार नहीं करता। जो नाक रगड़कर भक्ति का प्रदर्शन न करने वाले लोगों की उपेक्षा करता हो, जिसके हृदय में व्यथा न हो और जिसका हृदय, दूसरों के लिए सहज ही सहानूभूति से भर न आता हो।

ईश्वर मनुष्य की सहायता तभी करता है जब वह सर्वथा असहाय और दीन हो जाता है।

मैं अपने भीतर ईश्वर को चाहे आप उसे क्राइस्ट कहें या कृष्ण अथवा राम, उपस्थित अवश्य अनुभव करता हूँ। हमारे यहाँ ईश्वर के सहस्त्र नाम हैं और यदि मैं अपने भीतर ईश्वर का अस्तित्व अनुभव न करता होता तो मैं प्रतिदिन जो इतना दुख और नैराश्य देखता हूँ, उससे पागल हो जाता, फिर हुगली की धारा में शरण लेनी पड़ती।

एक सीमा तक ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना संभव है। संसार के सामान्य कार्यों में भी लोगों को यह जानकारी तो नहीं रहती है कि यह सब कुछ किसके चलाए चल रहा है और वह क्यों और किस ढंग से संसार का नियमन करता है? परंतु इतना वे निश्चित तौर पर समझते है कि कोई शक्ति है जो अवश्य ही संसार का संचालन कर रही है। पिछले वर्ष मैसूर दौरे में मैंने अनेक निर्धन ग्रामीणों से बातचीत के दौरान पाया कि उनको यह भी मालूम नहीं

था कि मैसूर का राजा कौन है। उन्होंने उत्तर दिया कि कोई देवता शासन करता है। यदि वे गरीब लोग अपने शासक के बारे में इतना कम जानते है तो फिर मेरी क्या विसात? अपने शासक की तुलना में वे जितने छोटे हैं, मैं तो ईश्वर की तुलना में न जाने कितना छोटा हूँ। इसलिए यदि मैं ईश्वर के अस्तित्व को, सम्राटों के सम्राट के अस्तित्व को महसूस न कर पाऊँ तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? फिर भी मैं इतना महसूस करता हूँ जैसा कि वे ग्रामीण मैसूर के बारे में महसूस करते थे—कि ब्रह्माण्ड में एक व्यवस्था है, एक अटल नियम, विश्व की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी का नियमन कर रहा है। वह नियम अंधा नहीं है, क्योंकि कोई भी अंधा या विवेक शून्य जीवधारी प्राणियों के आचरण का नियमन नहीं कर सकता। विश्व के समस्त जीवन का नियमन करने वाला नियम ही ईश्वर है। नियम और नियामक एक ही हैं। चूँकि मैं उस नियम और नियामक ईश्वर—के बारे में इतना कम जानता हूँ, इसीलिए मुझे उसके अस्तित्व को मानने से इंकार नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार किसी भौतिक शक्ति को मानने से इंकार करने वाला उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर या उसके नियमन को स्वीकार न करने से तो मैं उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह पाऊँगा। दूसरी ओर नतसिर होकर मूकभाव से ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार कर लेने से जीवन यात्रा उसी प्रकार सुगम सरल हो जाती है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि उस संसारिक सत्ता को, जिसके अधीन वह रहता है, स्वीकार कर लें तो उसकी जिंदगी आसान हो जाती है।

मुझे यह आभास सा तो अवश्य होता है कि इस सतत् परिवर्त्तनशील और नाशवान विश्व के पीछे कोई ऐसी चेतन शक्ति है, जो स्वयं अपरिवर्त्तनशील है, जो कण—कण को एक सूत्र में बांधे है, जो सृजन, संहार और नवसृजन करती रहती है। वह सर्वज्ञ शक्ति ही ईश्वर है। चूँकि अपने मात्र इन्द्रिय ज्ञान के बल पर मैं जितनी भी वस्तुओं की प्रतीति कर पाता हूँ, वे सभी नाशवान है, अनित्य है। इसलिए एक ईश्वर ही अनश्वर और नित्य है।

मुझे ईश्वरीय शक्ति पूर्णतया मंगलकारी लगती है। इसलिए कि मैं देखता हूँ कि मृत्यु के वातावरण में जीवन, असत्य के घमासान में सत्य और अंधकार की चपेट में प्रकाश अपना अस्तित्व बनाए हुए है। इसी से मैं निष्कर्ष निकालता हूँ कि ईश्वर जीवन, सत्य और प्रकाश रूप है। वह प्रेम है। वह परम तत्व हैं।

यदि ईश्वर, बुद्धि को संतोष दे भी सकता हो, तो वह ईश्वर, ईश्वर नहीं है, जो केवल बुद्धि को ही संतोष दे। ईश्वर तो तभी कहा जा सकता है जब उसका साम्राज्य हृदय पर हो, वह हृदय को बदल सके। उसके बंदे के हर एक छोटे से छोटे काम में भी उसकी झलक मिलनी चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब उसका सच्चा दर्शन मिले। वह दर्शन पाँच इन्द्रियों के ज्ञान से अधिक सच्चा होना चाहिए। जो ज्ञान इन्द्रिय से परे होता है, उसमें भूल नहीं हो सकती। यह बाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, बल्कि अपने भीतर ईश्वर की सच्ची अनूभूति करने वाले के आचार–व्यवहार तथा चरित्र में बदलाव से सिद्ध होता है।

इस प्रकार का साक्ष्य सभी देशों तथा जातियों के नवी पैगम्बरों, ऋषि, मुनियों के अनुभव में मिलता है। जिनकी श्रृंखला कभी टूटती नहीं। इस प्रमाण को अस्वीकार करना, अपने अस्तित्व को अस्वीकार करना है।

ईश्वरीय अनुभव आस्था के आधार पर ही प्रतिफलित होता है। जो भी व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को स्वयं अनुभव करके देखना चाहे, वह जीवन्त आस्था के बल पर ही ऐसा कर सकता है। चूँकि आस्था को भी किसी बाह्य प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए सबसे निरापद मार्ग यही है कि संसार के नैतिक नियमन और इसीलिए नैतिक नियम को, सत्य तथा प्रेम के नियम को सर्वोपरि नियम मानकर उसपर आस्था रखी जाए और उस आस्था का मार्ग अपनाना उस व्यक्ति के लिए सर्वाधिक फलप्रद रहेगा, जो सत्य और प्रेम के विरूद्ध पड़ने वाली हर चीज को सर्वथा त्याग करने का दृढ़ संकल्प कर लेगा।

ईश्वर को सिर्फ तर्क से साबित करने की शक्ति मुझमें नहीं है। आस्था तर्क से उपर की चीज है। बुराई के अस्तित्व का मैं अन्य कोई युक्ति संगत कारण नहीं सोच पाता। ऐसा करने की इच्छा करना अपने आपको ईश्वर का समकक्षी मान लेना है। इसलिए मैं पूरी विनम्रता के साथ बुराई को बुराई के रूप में स्वीकार करके ही संतुष्ट हूँ। मैं ईश्वर को अत्यन्त सहिष्णु और धैर्यशील भी इसीलिए कहता हूँ कि वह बुराई को संसार में रहने देता है। मैं जानता हूँ कि ईश्वर में बुराई का तत्व एकदम नहीं है। वह सर्वथा शुद्ध है। और इसके बावजूद यदि बुराइ है, तो वह उससे अछूता है।

यदि मैं अपने प्राणो की बाजी लगाकर बुराई के विरूद्ध संघर्ष नहीं करूँगा, तो मैं ईश्वरको कभी भी नहीं जान पाऊँगा। मेरी अपनी इच्छा और सीमित अनुभव मेरे इस विश्वास को पुष्ट बनाता है। मैं शुद्ध पवित्र बनने का जितना ही अधिक प्रयत्न करता हूँ अपने आपको ईश्वर के उतना ही निकट महसूस करता हूँ। आज तो मुझमें नाम मात्र की श्रद्धा है, फिर भी मैं अपने आपको उसके कुछ निकट महसूस करता हूँ। पर जब मेरी श्रद्धा हिमालय जैसी अटल और उसकी चोटियों के हिम जैसी धवल और उज्जवल बन जाएगी, तब मैं कितनी अधिक निकटता उससे महसूस करने लगूँगा?

ईश्वर स्वयं निश्चय की, व्रत की संपूर्ण मूर्ति है। उसके नियमों का एक अणु भी इधर–उधर हो जाए, तो वह ईश्वर ही न रह जाए। सूर्य महाव्रत धारी है। उससे संसार का काल निर्माण होता है और शुद्ध पंचागों की रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ, सदा उदय होता रहेगा और इसी से हमलोग अपने को सुरक्षित पाते हैं। व्यापार मात्र एक पक्की प्रतिज्ञा के आधार पर चलती है। इस प्रकार व्रत एक सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहाँ हमारे अपने जीवन के गठन का प्रश्न उपस्थित हो। ईश्वर–दर्शन करने का प्रश्न हो, वहाँ व्रत के बिना कैसे काम चल सकता है ? इसलिए व्रत की आवश्यकता के विषय में हमारे मन में कभी शंका नहीं उठनी चाहिए।

जैसे माता–पिता हमारे जन्मदाता हैं, वैसे ही उनके भी कोई जन्मदाता हैं। इस तरह एक–एक सीढ़ी ऊँचे चढ़ते जायें तो (सभी को) जिस जन्मदाता की कल्पना हम कर सकते है, वह ईश्वर है। उसका दूसरा नाम सर्जनहार भी इसीलिए पड़ा है। जैसे हमारे माता–पिता बहुत बार हमारे बिना कहे ही हमारी इच्छा को समझ जाते हैं, वैसा ही हम ईश्वर के बारे में भी समझे, और अगर माता–पिता में इतनी समझने की शक्ति होती है तो सब जीवों के सर्जनहार में तो हमारे मन की बात जानने की बहुत अधिक शक्ति होनी चाहिए। इससे ईश्वर को हम अन्तर्यामी के रूप में भी पहचानते हैं। उसे देख सकने की जरूरत नहीं है। अपने बहुत से संबन्धियों को हमने देखा नहीं है, किसी के माता–पिता बचपन में विदेश गए हों या मर गए हों तो भी वे हैं या थे। हम दूसरों की बात को सच मानकर ऐसा मानते हैं। वैसे ही हमारे सामने ईश्वर के बारे में संतो की साक्षी है।

आपमें ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न करना मेरी शक्ति के बाहर है। कई बातें स्वयं सिद्ध होती हैं और कई ऐसी हैं जो सिद्ध ही नहीं होती। ईश्वर का अस्तित्व ज्यामिति के स्वयं सिद्ध सत्यों की तरह है। यह संभव है कि वह हमारे लिए हृदयग्राही न हो। बुद्धि ग्राह्यता की तो मैं बात ही नहीं करूँगा। बौद्धिक प्रयत्न तो थोड़े बहुत अंश में निष्फल ही हैं। विवेकपूर्ण व्याख्या से ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि यह बात बुद्धि की ग्रहणशक्ति से परे है। युक्तियाँ इसके सामने काम नहीं करतीं। ऐसी बहुत सी घटनाएँ हैं, जिनसे ईश्वर के अस्तित्व की दलीलें दी जा सकती हैं, लेकिन ऐसी बुद्धि–गम्य दलीलों में उतरकर मैं आपकी बुद्धि का अपमान नहीं करना चाहता हूँ। मैं तो आपको यही सलाह दूँगा कि ऐसी सब बौद्धिक दलीलों को एक तरफ रख दीजिए और ईश्वर के संबंध में सीधी–सादी बालोचित श्रद्धा रखिए। यदि मेरा अस्तित्व है–यदि मैं हूँ तो ईश्वर का भी अस्तित्व है–ईश्वर भी है।

ईश्वर को मैंने इस पृथ्वी का सबसे बड़ा स्वामी पाया है और वह आपकी पूरी तरह परीक्षा करता है और जब आपको ऐसा लगता है कि आपकी आस्था आपका साथ नहीं दे रही है या आपका शरीर आपका साथ नहीं दे रहा है और आप डूबने लगे हैं तो वह किसी न किसी रुप में आपकी मदद को आ जाता है और आपके आगे यह सिद्व कर देता है कि आपको आस्था छोड़नी नहीं चाहिए कि वह सदा आपके पास ही है और पुकारने पर आ सकता है पर अपनी शर्त्तों पर, आपकी शर्त्तो पर नहीं। वस्तुतः मुझे एक भी ऐसा मौका याद नहीं आता जब बिल्कुल आखिरी घड़ी में उसने मेरा साथ न दिया हो।

जो यह कहते हैं कि ईश्वर प्रेम हैं। उनके स्वर में स्वर मिलाकर मैं भी कहूँगा कि ईश्वर प्रेम रूप होगा पर सबसे अधिक तो वह सत्य रूप है। यदि मनुष्य की वाणी के लिए, ईश्वर का संपूर्ण वर्णन करना संभव हो तो मैं स्वयं उसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ईश्वर सत्य है किन्तु दो वर्ष पूर्व मैं एक कदम और आगे बढ़ा और मैंने ही कहा–सत्य ही ईश्वर है।

ईश्वर को मानना चाहिए क्योंकि हम अपने को मानते हैं। जीव की हस्ती है तो जीवमात्र का समुदाय ईश्वर है और यही मेरी दृष्टि में प्रबल प्रमाण है।

ईश्वर को न मानने की सबसे बड़ी हानि अपने को न मानने से हो सकती है। अर्थात ईश्वर को न मानना आत्महत्या के समान है। बात यह है कि ईश्वर को मानना एक वस्तु है और ईश्वर को हृदयगत करना और उसके अनुकूल आचार रखना बिल्कुल दूसरी वस्तु है। सचमुच इस जगत में नास्तिक कोई है ही नहीं। नास्तिकता आडम्बर मात्र है।

ईश्वर में विश्वास रखने से ही मैं जिन्दा रह सकता हूँ। ईश्वर की मेरी व्याख्या याद रखनी चाहिए। मेरे समक्ष सत्य से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है। सत्य ही ईश्वर है।

यदि हमें ईश्वर में विश्वास है तो हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जैसे कि विश्वास पात्र द्वारपाल अथवा चौकीदार होने पर हम चिन्ता

नहीं करते। ईश्वर से बढ़कर अच्छा द्वारपाल अथवा चौकीदार कौन हो सकता है? उससे कभी चूक नहीं होती है। इतना ही काफी नहीं कि हम ऐसी बातों का भजन करें या उनको केवल बौद्धिक रूप से ग्रहण करें। जरूरी यह है कि हम भीतर से वैसा महसूस करें। यह महसूस करना ठीक वैसे ही है, जैसे कि दर्द या आनन्द महसूस करते हैं।

ईश्वर तो अन्तर में रहता है। इसलिए भौतिक विज्ञान संबंधी किसी भी छानबीन से हमारे मन में ईश्वर के प्रति जीवन्त श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। कुछ लोगों को भौतिक विज्ञान से सहायता जरूर मिली है पर ऐसे लोग गिने–चुने हैं। इसीलिए मैं तो यही सलाह दूँगा कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में उसी तरह तर्क नहीं करो हम जिस तरह हम अपने अस्तित्व के बारे में नहीं करते। स्वयं सिद्ध सूत्रों की तरह बस इतना मान लें कि ईश्वर है। किसी और कारण से नहीं तो केवल इसलिए कि असंख्य सिद्ध व्यक्ति ऐसा कह गए हैं और उससे भी बड़ी बात यह है कि उनका जीवन इसका असंदिग्ध प्रमाण रहा है और यदि आपके मन में श्रद्धा है तो इसे प्रमाणित करने के लिए रामनाम जपा करें।

ईश्वर की हस्ती के लिए बुद्धि से प्रमाण माँगा जाए तो कहाँ से मिले ? कारण ईश्वर बुद्धि से परे है। अगर ऐसा कहें कि बुद्धि से आगे कुछ नहीं है तो जरूर मुश्किल पैदा होती है। ईश्वर को पहचानने की दो मंजिले हैं। पहली मंजिल श्रद्धा और दूसरी एवं आखिरी मंजिल उससे होने वाला अनुभव, ज्ञान। दुनियाँ के बड़े से बड़े शिक्षकों ने अपने अनुभवों की गवाही दी है और दुनियाँ मूर्ख समझकर जिनकी अवज्ञा कर सकती है, उन्होंने भी अपनी श्रद्धा का सबूत दिया है ? इनकी श्रद्धा पर हम अपनी श्रद्धा का निर्माण करें तो किसी दिन अनुभव भी मिल जाएगा।

ईश्वर का दर्शन आँखों से नहीं हो सकता, उसका दर्शन श्रद्धा से होता है। हमारे दिल में जब किसी भी तरह के विकारी विचार न

हों, किसी भी प्रकार का भय न रहे और नित्य प्रसन्नता रहे, तब यह जाहिर होता है कि हृदय में भगवान निवास करते हैं। वे तो सदा वहाँ है ही मगर हम उन्हें नहीं देखते क्योंकि हममें श्रद्धा नहीं है। इसीलिए हमें कई तरह के संकट उठाने पड़ते हैं। सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर बाहर से लगने वाले संकट भी श्रद्धावाले को संकट नहीं लगते ।

परमेश्वर और प्रकृति एक ही वस्तु है। देवता परमेश्वर की एक–एक शक्ति है। उसकी उपासना से भी अन्त में परमेश्वर तक पहुँचा जा सकता है।

1. ईश्वर सत्य है।
2. अतः ईश्वर प्राप्ति का मार्ग यह है कि मन, वाणी और कर्म से सत्य का पालन किया जाए।
3. रामनाम का स्मरण यदि हृदय से किया जाए तो उससे अवश्य ही आत्म साक्षात्कार होगा।
4. आत्म साक्षात्कार का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार।

ईश्वर और उसका विधान एक ही है। यह विधान ही ईश्वर है। उसमें आरोपित कोई गुण, मात्र गुण ही नहीं है। ईश्वर स्वयं गुण रूप है। वह सत्य है, वह प्रेम है, ऋत है और मानव मस्तिष्क उसके लिए अन्य जितने भी नामों की कल्पना कर सकता है, ईश्वर वह सब कुछ है। अटल विधान को कोई भी नहीं बदल, सकता, वह जिस रीति से काम करता है, उसमें स्वयं ईश्वर भी कभी हस्तक्षेप नहीं करता। कारण ईश्वर और उसका विधान एक ही है। किन्तु मझे यह स्वीकार करना चाहिए कि उस नियम को या उन नियमों को हम पूरी तरह से नहीं जानते और जो चीज हमें विपत्ति सी लगती है, वह वैसी इसीलिए लगती है कि हम विश्व नियमों को भली भाँति नहीं जानते।

जबसे इस सृष्टि की रचना हुई है तब से (जगत के) सभी मानव जिसमें बुद्धिमान और मूर्ख दोनों ही शामिल हैं, इस धारणा को लेकर चले है कि यदि हम हैं तो ईश्वर भी है और यदि ईश्वर नहीं है तो हम भी नहीं है और चूँकि ईश्वर में विश्वास मानव जाति के अस्तित्व

के साथ जुड़ा हुआ है इसलिए ईश्वर के अस्तित्व के तथ्य को सूर्य के अस्तित्व के तथ्य से भी अधिक निश्चित तथ्य के रूप में माना जाता है। ईश्वर पर इसी जीवन्त विश्वास ने जीवन की विपुल गुत्थियों को सुलझाया है। इसने हमारे दुखों को कम किया है। यह विश्वास हमें जीवन काल में बल प्रदान करता है और मृत्यु के समय शांति प्रदान करता है। लेकिन सत्य की खोज ईश्वर की खोज है। सत्य ही ईश्वर है। क्योंकि सत्य है, इसलिए ईश्वर भी है।

हम यह कहने वाले कौन होते है कि ईश्वर कोई अन्याय क्यों करता है या क्यों होने देता है? अगर हम ईश्वर के हर कार्य को बुद्धि की कसौटी पर परख सकें तो फिर श्रद्धा की गुंजाइश ही कहाँ रह जाएगी। फिर तो हम ईश्वर के समकक्ष बन जाएँगे।

मैंने यह अनुभव किया है और मैं विश्वास करता हूँ कि ईश्वर आपके आगे सशरीर कभी प्रकट नहीं होता। वह तो उस कार्य में प्रकट होता है जो गहनतम अंधकार में भी आपकी मुक्ति का कारण हो सकता है।

युद्ध में लोग क्यों मरे अकाल में क्यों मरे? ईश्वर ऐसा क्यों करता है, आदि बातों का यही जवाब है कि यदि हम लोग ये सब जान जाएँ तो ईश्वर न बन जाए। उसकी बात नहीं जान पाते हैं, क्योंकि वह ईश्वर है।

ईश्वर का कौल है—मैं आज हूँ कल था, भविष्य में रहूँगा। मैं सब में हूँ । इतना जानते हुए भी हम ईश्वर से दूर भागते हैं और जो विनाशी अपूर्ण है उसका सहारा ढूँढ़ते हैं और दुखी होते है। इससे अधिक आश्चर्य क्या है?

हम जान बूझकर ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते है और मैं उतना ही सोच—विचार कर कदाचित उत्तरोत्तर अधिक उत्कटता के साथ ईश्वर पर भरोसा रखता हूँ।

ईश्वर स्वयं नीति और नीतिकार है। इसलिए उसके सृजन करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तो फिर उसका मनुष्य जैसा तुच्छप्राणी

क्या सर्जन करेगा? आदमी बाँध बाँध सकता है, लेकिन नदी का सृजन नहीं कर सकता। मनुष्य कुर्सी बना सकता है लेकिन लकड़ी नहीं। वह ईश्वर की अनेक कल्पनाएँ करे लेकिन जब वह लकड़ी, नदी आदि का सृजन नहीं कर सकता तो ईश्वर का सृजन क्या करेगा? इसलिए परम सत्य तो यही है कि ईश्वर ने आदमी का सृजन किया है। मनुष्य का यह मानना कि उसने ईश्वर का सृजन किया है, केवल भ्रम है।

मैं चमत्कारों में विश्वास रखता हूँ और नहीं भी रखता हूँ। ईश्वर अपना काम चमत्कारों के माध्यम से ही नहीं करता। किन्तु ईश्वरेच्छा अचानक किसी क्षण प्रकट होती है और लोग उसी को चमत्कार मान बैठते है। हम ईश्वर को नहीं जानते। वह और उसका विधान दोनों एक ही है। उसके विधान से परे कुछ नहीं है। भूचाल और तूफान भी उसकी इच्छा के बिना नहीं आते—जब तक वह नहीं चाहता घास की एक नन्हीं पत्ती नहीं उगती।

केवल भगवान ही सब कुछ करने में समर्थ है? वह सृष्टि का निर्माण करता है और संहार भी, संहार करके भी वह निर्माण ही करता है।

वस्तुतः ईश्वर सर्वव्यापी है। लेकिन उसके निराकार और अदृश्य होने के कारण मनुष्य हमेशा उसकी उपस्थिति अनुभव नहीं कर सकता। लेकिन अगर हमारे पास उसकी बातें सुनने वाले कान हैं, तो वह हमारी अपनी भाषा में—चाहे वह कोई भी भाषा हो—हमसे अपनी बात कहेगा।

ईश्वर का समय कभी नहीं रूकता। आरम्भ से ही उसके समय का चक्र निरंतर चलता रहता है। सच तो यह है कि न ईश्वर का और न उसके समय का कोई आदि है। ऐसी कोई भी चीज जिसका आरम्भ है तो उसका अंत भी अवश्यम्भावी है। सूर्य चन्द्र और पृथ्वी इन सबका अंत एक न एक दिन होना ही है, चाहे वह दिन असंख्य वर्षों के बाद ही क्यों न आए। अकेला ईश्वर ही अमर और अनश्वर

है। मनुष्य उसका वर्णन करने के लिए शब्द कहाँ से ला सकता है? जिसका काल चक्र रूकता ही नहीं ऐसे ईश्वर की पूजा करने का समय कोई कैसे चूक सकता है?

ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आत्मा है। जिसने भी उसे अपने ह्रदय में स्थापित कर लिया है, उस एक ऐसी अद्भुत शक्ति या ऊर्जा प्राप्त हो गई है, जो परिणामों की दृष्टि से उतनी ही प्रभावकारी है जितना कि उदाहरणार्थ–बिजली, पर जो उससे भी अधिक सूक्ष्म है।

मेरी इच्छा काम करते–करते, राम नाम रटते–रटते मरने की है। मैं अकेलापन महसूस नहीं करता और अनेक मित्रों के साथ दृढ़ता से भिड़ने का साहस मुझे ईश्वर दे रहा है। ईश्वर दर्शन का अर्थ कोई हाथ पैरो वाला या चित्र में दिखाई देने वाला अनेक साजों से सजा हुआ पूर्ण पुरूष नहीं, प्रत्येक क्षण में हममें जागृत रहने की शक्ति आए और उसके द्वारा हम सीधे रास्ते पर चलें, यही ईश्वर की सहायता है–ईश्वर का साक्षात्कार है।

प्रभु को हम देख तो नहीं सकते, किन्तु उसकी दया, उसकी उदारता तो दृष्टि में सर्वत्र दीख पड़ती है और उसका प्रमाव हमारे मन पर पड़ता ही है। उदाहरण के लिए किसी चित्रकार ने कोई चित्र खींचा हो तो चित्रकार को हम भले ही न पहचानें, उस चित्र से उस कलाकार की कल्पना कर लेते हैं। इसी तरह इस अपार सृष्टि को देखकर प्रकृति ने जहाँ जिन सब वस्तुओं की रचना की है। उन्हें देखकर तो यही लगता ही है कि इनके पीछे कोई दिव्य शक्ति है।

ईश्वर एक शक्ति है, तत्व है, शुद्ध चैतन्य है, सर्वव्यापी है। मगर हैरानी की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सबको उसका सहारा या लाभ नहीं मिलता या यों कहें कि सब उसका सहारा पा नहीं सकते।

ईश्वर दर्शन का अर्थ मनुष्य के रूप में दो हाथ, दो पैर वाले और शंख–चक्र–गदाधारी भगवान का दर्शन करना नहीं है। ईश्वर दर्शन का अर्थ है इस सृष्टि में सेवा करने का अवसर पाना उसका

अर्थ है दरिद्रनारायण की सेवा करके उसे सेवा द्वारा अपने जीवन को कृतार्थ करना।

इंसान का सबसे महान उद्योग, भगवान को पाने की कोशिश करने में है। वह मन्दिरों, मूर्तियों या इंसानों के हाथो बनाई हुई पूजा की जगहो में नहीं मिल सकता और न उसे व्रतो और उपवासो के जरिए पाया जा सकता है, ईश्वर सिर्फ प्यार के जरिए मिल सकता है और वह प्यार लौकिक नहीं अलौकिक होना चाहिए। मीराबाई जो हर चीज में भगवान को देखती थीं, ऐसे प्यार की जिन्दगी बिताती थीं कि उनके लिए भगवान ही सब कुछ है।

ईश्वर का दर्शन के लक्ष्य को पाने की मेरी आकांक्षा रही है और इसके लिए मैं साठ वर्षो से प्रयत्नशील हूँ। इसमें पूरी तरह सफल होने का दावा तो मैं नहीं कर सकता, मगर यह महसूस करता हूँ कि मैं दिन–प्रतिदिन उसके निकट पहुँचता जा रहा हूँ और मेरे लिए यही काफी है।

ईश्वर अर्थात वह पुनीत चैतन्य, जो पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और जिसके बिना एक क्षण भी संसार का कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

ईश्वर कभी न्यायपूर्ण नहीं हो सकता था, यदि वह दयालु नहीं होता। हम जैसे दोषों से पूर्ण मनुष्यों के लिए न्याय और दया के मायने अलग हैं और ईश्वर के लिए अलग। परमात्मा आदर्श है, जो हमारे मन को जानता है यदि तुम चाहो तो वह तुम्हारे दिल पर अधिकार कर सकता है। इसीलिए उसका न्याय कभी दंडात्मक नहीं होता, कभी गलत नहीं होता और इसी कारण वह हमारे ऊपर दया–भाव रखता है। छूआछूत ईश्वर की बनाई प्रथा नहीं है। यह तो मनुष्य द्वारा निर्मित है। ईश्वर अच्छाई के साथ–साथ बुराई को भी बनाए रखता है। इसमें भेद है। इस भेद का सुलझाने का प्रयत्न करने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है लेकिन उसकी उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। ईश्वर हमारे भाग्य–निर्माता भी है। स्वयं को पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित कर दें तो हमारे दुख भी सुख में बदल जाते हैं।

मैंने ईश्वर के अस्तित्व को तब मानना शुरू किया, जब मैंने माना कि आत्मा का भी अस्तित्व होता है। सत्य की खोज के दौरान मैंने आत्मा की खोज की। अगर आत्मा जैसी कोई चीज नहीं, तब एक सत्यपूर्ण कर्म भी पाप हो सकता है। लेकिन मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया है कि सत्यपूर्ण कर्म सर्वदा सराहनीय कर्म है।

मेरा ईश्वर तो सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह तो नास्तिको की नास्तिकता भी है। हम कुछ नहीं हैं, सिर्फ वही है और अगर हम हों तो हमें सदा उसके गुणों का गान करना चाहिए और उसकी इच्छानुसार चलना चाहिए। आइए उसकी बंशी की धुन पर हम नाचें। सब अच्छा ही होगा।

इस संसार में जो अज्ञात शक्ति है, आप सदा उसका ध्यान रखें। संभव है उस शक्ति के दर्शन हमें कभी न हों। किन्तु हम अपने मन में यह अनुभव करें कि वह शक्ति हमें देख रही है और हमारे प्रत्येक पापमय विचार का लेखा रख रही है। यदि आप ऐसा करेंगे तो इस शक्ति से आपको सदा सहायता मिलेगी।

हमारे लिए इतना जानना ही पर्याप्त होना चाहिए कि इस संसार में बुराई है और हमें उससे बचना है। यदि हम उसके उद्‌गम को जान लें तो हम सर्वशक्तिमान ईश्वर ही न बन जाएँ। अब एक सवाल यह है कि ईश्वर इस बुराई को बनाए हुए ही क्यों है? मगर जब मैं यह महसूस करता हूँ कि इसका कारण केवल उसी को मालूम है, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।

ईश्वर अर्थात सत्य के अतिरिक्त और कोई मार्ग–दर्शक नहीं होना चाहिए। एक ईश्वर ही सच है उसके अतिरिक्त कोई भी पूर्णतः सच नहीं हो सकता।

मेरी दृष्टि में तो ईश्वर और सत्य दोनो एक ही है और ईश्वर को हम जितने नामों से जानते हैं, उसमें सत्य ही मुझे सदैव उसका सबसे उपयुक्त नाम प्रतीत हुआ है और मेरे लिए निःस्वार्थ सेवा ही ध्यान और समाधि है।

मेरे लिए यह भूकम्प ईश्वर की किसी सनक का नतीजा नहीं था और न किन्हीं जड़ शक्तियों के टकराव का परिणाम था। न तो हम ईश्वर के सभी नियम जानते हैं और न उनकी कार्यप्रणाली ही। बड़े से बड़े वैज्ञानिक या दार्शनिक का ज्ञान धूल कण के जितना ही है। ईश्वर मेरे लिए अपने लौकिक पिता के समान कोई पार्थिव पुरुष नहीं है, लेकिन वह उससे अनन्त गुना बढ़कर अवश्य है। मेरे जीवन की छोटी सी छोटी बातों में वह मेरा नियामक है। इस बात पर मैं अक्षरशः विश्वास करता हूँ कि उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। मेरी हर साँस उसी की कृपा पर निर्भर है।

'ऊधो करमन की गति न्यारीं' यह शुद्ध सत्य है। कर्म का नियम है, इतना हम जान सकते हैं परंतु हम यह नहीं जानते कि वह नियम किस ढंग से काम करता है। यह प्रभु की कृपा है। सामान्य राजा के नियम भी जब हम नहीं जानते तो फिर नियम की मूर्ति के समान परमात्मा के सारे नियमों को हम कैसे जान सकते हैं?

अगर हम अवसर दें तो भगवान स्वयं अपने विशाल कंधों पर हमारी सारी चिन्ताओं का बोझ ले लेते हैं, मैं तुम्हें इस समय लिख रहा हूँ–यह जितना सत्य है उतना ही सच यह बात भी है। अलबत्ता उसका तरीका नहीं है और उसके कंधे हमारे कंधे नहीं है। फिर भी उसकी मरजी के अनुसार चलने में ही सारा सौन्दर्य समाहित है।

मेरा आनंद तो एक ही बात में है–ईश्वर दर्शन में है। यह दर्शन गरीबों में ओत–प्रोत होने से ही होगा। कंगाल देश के गरीबों में मैं अगर ओत–प्रोत हो जाऊँ तो सारी दुनियाँ के साथ ओत–प्रोत हो सकता हूँ। मनुष्य का अंतिम उद्देश्य है, ईश्वर का साक्षात्कार–उसकी अनुभूति प्राप्त करना। उसके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी कार्य इस अंतिम उद्देश्य–ईश्वरानुभूति को ध्यान में रखकर ही सम्पादित होना चाहिए।

कठिनाइयों, दुविधाओं और शंकाओं में मेरी आत्मा को सबसे अधिक संतोष, ईश्वर में जीवन्त आस्था से मिला है।

मैं जो कुछ करना चाहता हूँ, उसके साथ ईश्वर का नाम जोड़ने पर लोगों को मेरी हँसी नहीं उड़ाना चाहिए। सही हो या गलत मैं यह जानता हूँ कि सत्याग्रही के नाते हर एक संभव कठिनाई में ईश्वर की सहायता के अलावा और किसी का बल मुझे नहीं है। हो सकता है यह मेरे उतप्त मस्तिष्क की उपज हो तो मुझे इस उतप्त मस्तिष्क पर गर्व है।

मेरा आधार मात्र ईश्वर है। मेरे लिए एक कदम ही काफी है। उसके आगे का कदम समय आने पर ईश्वर मुझे खुद दिखा देगा।

परमेश्वर पर विश्वास रखना सबसे आसान होना चाहिए, लेकिन सबसे कठिन वही दिखता है।

मैं ऐसी शक्ति में विश्वास करता हूँ जो अगम्य है और जो हमारी तकदीर को बनाती या बिगाड़ती है—आप चाहें उसे ईश्वर कहिए या किसी नाम से पुकारें।

यह जरूरी नहीं कि ईश्वर हमारी राह को मुश्किलों से हमेशा दूर कर दे, लेकिन वह हमें इतनी ताकत जरूर देता है कि हम उन्हें बर्दास्त कर लें।

भगवान खुद कानून है और खुद ही कानून बनाने वाला भी है। वह खुद अपने बनाए कानून से बाहर नहीं आते और न किसी दूसरे को जाने देते हैं।

आस्तिक का बोझ ईश्वर उठाता है, ऐसा विश्वास गीता में व्यक्त है। 1

प्रार्थना

प्रार्थना वही है जिसके साथ अनुरूप क्रिया भी हो, अन्यथा वह व्यर्थ तोता रटन्त मात्र है। हम ईश्वर को अपने पैमाने से नापते हैं और भूल जाते है कि उसके तरीके हमारे तरीके से अलग हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो जिसे हम मिथ्या अहंकार के कारण विनय और प्रार्थना का गलत नाम देते हैं, उसके फलस्वरूप हमसे बहुत सी चीजें छिन गई होती। प्रभु सर्वज्ञ है। उसका सूरज भले और बुरे सबको समान रूप से प्रकाश देता रहता है।

शुद्ध हृदय से प्रार्थना वही कर सकता है, जो अपनी प्रार्थना के अनुरूप कार्य करने वाला हो।

मेरा यह विश्वास और अनुभव है कि यदि उपवास और प्रार्थना सच्चे दिल और धार्मिक वृत्ति से किए जाए, तो उससे महान फल की प्राप्ति हो सकती है। लेकिन बिना प्रार्थना के उपवास शुष्क है और उसका परिणाम रोगी को निरोग करना अथवा निरोगी को व्यर्थ कष्ट देना हैं।

प्रार्थना का अर्थ ईश्वर से सांसारिक सुख अथवा स्वार्थ साधने की अन्य वस्तुओ की माँग करना नहीं है। प्रार्थना कष्ट सहने वाली आत्मा का गंभीर नाद है। उसका संसार पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता और उस प्रार्थना की ईश्वर के दरबार में सुनवाई हुए बिना नहीं रहती।

ईश्वर से न्याय उन्हीं को मिलता है, जो उसके पात्र होते हैं।

मैं तो ईश्वर से इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे सत्पथ दिखा, यदि मेरे अंदर राग—द्वेष या क्रोध का कुछ भी अंश छिपा रह गया हो तो उसे दूर कर।

प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं वरन हृदय से होता है। इसी से गूंगे—तोतले मूक भी प्रार्थना कर सकते है। जीभ पर अमृत और हृदय

में हलाहल हो तो जीभ का अमृत किस काम का ? कागज के गुलाब से सुगंध कैसे निकल सकती है? इसलिए जो सीधे तरीके से ईश्वर का भजन चाहता हो उसे अपने हृदय की शुद्धि कर लेनी चाहिए। हनुमान की जीभ पर जो राम था वही उसके हृदय का स्वामी था और इसी से उसमें अपरिमित बल था। विश्वास से जहाज चलते है, विश्वास से पर्वत उठाया जा सकता है और समुद्र लाँघा जा सकता है इसका अर्थ यह है कि जिसके हृदय में सर्वशक्तिमान ईश्वर का निवास है वह क्या नहीं कर सकता ? फिर भले ही वह कोढ़ी हो या क्षय का रोगी। जिसके हृदय में राम बसते हैं उसके सब रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

हृदय से प्रार्थना सीखने का मार्ग सेवा–धर्म है।

प्रार्थना तो सिर्फ उस सर्वशक्तिमान से ही की जा सकती है। हम चौबीस घंटे अपने चारों ओर मन में आदर और भय उत्पन्न करने वाली प्रकृति के जो व्यापार अपनी आँखों, से देखते रहते हैं अगर उससे संतोष न हो तो हमें अपने मन में ऐसी आस्था जगानी चाहिए कि उस सर्वशक्तिमान का अस्तित्व है। निश्चय ही इस सबसे परे कोई चेतन शक्ति है और वह है ईश्वर। लेकिन अगर प्रकृति के ये प्रत्यक्ष व्यापार हममें विश्वास उत्पन्न न कर पाते हों तब हमें मनुष्य जाति के तमाम महान शिक्षकों के अनुभवों के आधार पर अपने भीतर यह विश्वास जगाना चाहिए । वही चेतना शक्ति हमारी प्रार्थना सुनती है और उसका उत्तर देती है।

प्रार्थना तो नित्यशुद्धि के लिए की जाती है। शरीर शुद्धि के लिए नित्य स्नान का जो महत्व है, हृदय तथा मस्तिष्क के लिए वही स्थान प्रार्थना का है।

प्रार्थना करना याचना नहीं है, वह तो आत्मा की पुकार है–वह अपनी त्रुटियों को नित्य स्वीकार करना है। हममें से बड़े–बड़ों को मृत्यु–रोग वृद्धावस्था, दुर्घटना इत्यादि के सामने अपनी तुच्छता का भान हरदम हुआ करता है। हम सदा मृत्यु से घिरे रहकर जीते है।

यदि हमारे मंसूबे पलभर में मिट्टी मे मिल सकते है अथवा यदि एकाएक पलभर में खुद हमारी हस्ती तक मिटा सकती है, तब हमारे अपने मंसूबों पर अमल करने का मूल्य ही क्या रहता है? लेकिन अगर हम कह सकें कि हम तो ईश्वर के निमित्त तथा उसकी इच्छा के अनुसार ही काम करते है तब हम अपने को मेरू की भाँति अचल मान सकते है।

सामुदायिक प्रार्थना बड़ी बलवती वस्तु है। वे सबलोग जो मंदिरों, मस्जिदों और गिरिजाघरों में इकट्ठे होते हैं न तो कोई धर्मोपहासी होते हैं न पाखण्डी। वे ईमानदार लोग होते है। उनके लिए तो सामुदायिक प्रार्थना नित्य स्नान की भांति एक आवश्यक नित्यकर्म है। वे प्रार्थना स्थल कोरे अन्धविश्वास के सूचक ऐसे स्थान नहीं हैं जिन्हें जल्दी से जल्दी नेस्तनाबूद कर दिया जाना चाहिए। वे आघात सहते रहकर भी अबतक मौजूद हैं और अनन्तकाल तक बने रहेंगे।

प्रार्थना की उपयोगिता को तर्क से किसने जाना है। इसकी उपयोगिता का पता अभ्यास के बाद ही चलता है। संसार की गवाही तो यही है। शंकर तो बुद्धिवादियों में श्रेष्ठ थे। संसार के साहित्य में शायद ही ऐसी कोई वस्तु हो जो शंकर के बुद्धिवाद से श्रेष्ठ हो। किन्तु उन्होंने पहला स्थान प्रार्थना और भक्ति को दिया है।

किन्तु श्रद्धा और विश्वास के बिना जो काम किया जाता है, वह उस कागजी फूल के समान होता है, जिसमें सुवास नहीं होती। मैं बुद्धि को दबाने के लिए नहीं कहता, बल्कि स्वयं मानव बुद्धि को जिस वस्तु ने पवित्र बनाया है उसे स्वीकार करने के लिए कहता हूँ।

ईश्वर के प्रति रोगी की प्रार्थना ऐसी होनी चाहिए–हे ईश्वर ! मेरा यह रोग मुझसे जाने–अनजाने में हुए पापों का परिणाम है। मुझे तू पाप से मुक्त कर और उस दुख को सहन करने की शक्ति दे।

महाभारत में द्रौपदी द्वारा श्रीकृष्ण से की गई यह प्रार्थना पढ़कर मैं बहुत रोया। मेरे विचारानुसार द्रौपदी की इस प्रार्थना की शक्ति अपूर्व है।

गोविन्द द्वारिकावासिन, कृष्ण गोपीजन प्रिय
कौरवेः परिभूतां मां कि न जानसि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ, व्रजनाथार्तिनाशन
कौरवार्णवमग्नां माम उद्धरस्व जनार्दन
कृष्ण कृष्ण महायोगिन, विश्वात्मन, विश्वाभावन
प्रपन्ना पाहि गोविन्द, कुरूमध्येऽव सीदतीय।।

गोविन्द अर्थात इन्द्रियों का स्वामी। गोपी अर्थात् हजारो इन्द्रियाँ। गोपीजन प्रिय अर्थात बड़े समुदाय का प्रिय अथवा यों कहिए कि निर्बल मात्र का प्रिय।

द्रौपदी ने 'कृष्ण' ऐसा दो बार कहा। मनुष्य को जब बहुत आनन्द होता है, अथवा बहुत दुख होता है, उस समय वह दो बार बोलता है।

जगत में प्रार्थना एक ही हो सकती है। यदि हम यह प्रार्थना नित्य करेंगे और विवेकपूर्ण करेंगे तो यह हमारे मन में बैठ जाएगी। केशव तो हमारे पास ही हैं। वे द्वारिका में रहते हैं, ऐसी बात नहीं। द्रौपदी भूल गई कि केशव उसके पास हैं, लेकिन कृष्ण तो वहाँ उनके पास बैठे उसकी चीर बढ़ाते रहे। हमारे मन में भी दुर्वासनाएँ उठतीं है दुष्ट विचार आते है। उस समय हमारे मन में यह विचार उठना चाहिए कि हमारे मन में ऐसे विचार क्यों आते हैं? उस समय हमें इस श्लोक का पाठ करना चाहिए।

जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन आवश्यक है, इसी प्रकार आत्मा के लिए प्रार्थना आवश्यक है। कोई मनुष्य कई दिनों तक बिना भोजन किए रह सकता है। लेकिन ईश्वर में विश्वास रखते हुए मनुष्य एक क्षण के लिए भी बिना प्रार्थना किए नहीं रह सकता और न उसे रहना ही चाहिए।

जितनी जरूरत प्रार्थना की है, उतनी पुरूषार्थ की भी है। बिना प्रयत्न के प्रार्थना आडम्बर बन जाती है। प्रार्थना शुष्क तो है ही। फिर यदि वह हार्दिक न हो तो उसका केवल यांत्रिक, उच्चारण निरर्थक है। प्रयत्न करने वाले में तुरंत आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है।

मैं मानता हूँ प्रार्थना धर्म का प्राण है और सार है और इसलिए प्रार्थना मनुष्य के जीवन का मर्म होनी चाहिए। क्योंकि कोई आदमी धर्म के बिना जी ही नहीं सकता। कुछ लोग हैं जो अपनी बुद्धि के अहंकार में कह देते है कि उन्हें धर्म से कोई सरोकार नहीं। मगर यह तो ऐसा ही है जैसे कोई मनुष्य कहे कि वह साँस तो लेता है मगर उसकी नाक नहीं। बुद्धि से कहिए या स्वाभाव से अथवा अंधविश्वास से कहिए, मनुष्य दिव्य तत्व से अपना कुछ न कुछ नाता स्वीकार करता ही है। घोर से घोर नास्तिक या अनीश्वरवादी भी किसी नैतिक सिद्धांत की आवश्यकता को मानता है और उसके पालन में कुछ न कुछ भलाई और उसका पालन न करने में बुराई समझता है। सत्य स्वयं अपना पुरस्कार है। सत्य का पालन करने से होने वाला आनन्द सांसारिक, बिलकुल नहीं होता, यह ईश्वर के साथ अपने संबंध की अनुभूति से पैदा होता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि जो आदमी धर्म को नहीं मानता, वह भी धर्म के बिना नहीं रह सकता और नही रहता।

जैसे प्रार्थना धर्म का सबसे मार्मिक अंग है वैसे ही मानव जीवन का भी। प्रार्थना या तो याचना रूप होती है या व्यापक अर्थ में यह ईश्वर से भीतर लौ लगानी होती है। दोनों ही सूरतों में अन्तिम परिणाम एक ही होता है। जब वह याचना के रूप में हो तब भी याचना आत्मा की सफाई और शुद्धि के लिए उसके चारो ओर लिपटे हुए अज्ञान और अंधकार के आवरणों को हटाने के लिए होनी चाहिए। इसलिए जो अपने भीतर दिव्य ज्योति जगाने को तड़प रहा हो उसे प्रार्थना का आसरा लेना ही चाहिए। परंतु प्रार्थना शब्दों या कानों का व्यायाम मात्र नहीं है खाली मंत्र जाप नहीं है। आप कितना ही राम नाम जपिए, अगर उससे आत्मा में भाव संचार नहीं होता तो व्यर्थ है। प्रार्थना में शब्दहीन हृदय, हृदयहीन शब्दों से अच्छा होता है। प्रार्थना स्पष्ट रूप में आत्मा की व्याकुलता की प्रतिकिया होनी चाहिए। जैसे कोई भूखा आदमी मनचाहा भोजन पाकर सुख का अनुभव करता है ठीक वैसे ही भूखी आत्मा को हार्दिक प्रार्थना में आनंद आता है। यह

मैं अपने और साथियो के यत्किचिंत अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि जिसे प्रार्थना के जादू की प्रतीत हुई है। वह लगातार कई दिन तक आहार के बिना रह सकता है। परंतु प्रार्थना के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। कारण प्रार्थना के बिना भीतरी शांति नहीं मिलती।

कोई कहेगा कि अगर यह बात है, तो हमें अपने जीवन में हर क्षण प्रार्थना करते रहना चाहिए। निस्संदेह बात यही है, परंतु हम तो भूल में पड़े हुए प्राणी हैं, एक क्षण के लिए भी भगवान से भीतरी लौ लगाने के लिए बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी होना हमें कठिन जान पड़ता है। तब हर क्षण ईश्वर से लौ लगाए रखना तो हमारे लिए असंभव ही होगा। इसलिए हम कुछ समय नियत करके उस समय थोड़ी देर के लिए सांसारिक मोहों को छोड़ देने का गंभीर प्रयत्न करते हैं या कहिए कि इन्द्रियातीत रहने की दिली कोशिश करते हैं। आपने सूरदास का भजन 'मो सम कौन कुटिल, खल, कामीं' सुना है। यह ईश्वर से मिलने के लिए भूखी आत्मा की करूण पुकार है। हमारे पैमाने में वे एक सन्त थे। परंतु उनके अपने पैमाने में वे घोर पापी हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वे हमसे मीलों आगे थे, परंतु उन्हें ईश्वर वियोग की पीड़ा की इतनी ज्यादा अनुभूति थी, कि उन्होंने आत्मग्लानि और निराशा के स्वर में अपनी पीड़ा इस तरह व्यक्त की।

प्रार्थना का सार यह है कि हमारा जन्म अपने मानव बंधुओं की सेवा के लिए हुआ है और यदि हम पूरी तरह से जागृत न रहें, तो यह काम हम अच्छी तरह नहीं कर सकते। मनुष्य के हृदय में अंधकार और प्रकाश की शक्तियों में सतत संघर्ष होता रहता है। अतः जिसके पास प्रार्थना की डोर का सहारा नहीं है, वह अंधकार की शक्तियों का शिकार हो जाएगा। प्रार्थना करने वाला आदमी अपने मन में शांति का अनुभव करेगा और संसार के साथ भी उसका संबंध शांति का होगा। जो मनुष्य प्रार्थनापूर्ण हृदय के बिना सांसारिक कर्म करेगा, वह स्वयं भी दुखी रहेगा और संसार को भी दुखी करेगा। इसलिए मनुष्य की मरणोत्तर स्थिति पर प्रार्थना का जो प्रभाव होता है, उसके सिवा भी

प्रार्थना का मनुष्य के पार्थिव जीवन में असीम महत्व है। हमारे दैनिक कार्यों में व्यवस्था, शांति और स्थिरता लाने का एकमात्र उपाय प्रार्थना है।

दिन का काम प्रार्थना से शुरू कीजिए और उसमें इतनी आत्मा उड़ेलिए कि वह शाम तक आपके साथ बनी रहे। दिन का अंत भी प्रार्थना के साथ कीजिए, ताकि आपकी रात शांतिपूर्ण तथा स्वप्नों और दुःस्वप्नों से मुक्त रहे। प्रार्थना के स्वरूप की चिन्ता न कीजिए। स्वरूप कुछ भी हो, वह ऐसा होना चाहिए, जिससे भगवान के साथ हमारे मन की लौ लग जाए। बस इतना ध्यान रखें कि स्वरूप कैसा भी है। मगर आपके मुँह से प्रार्थना के शब्द निकलते समय आपका मन इधर–उधर न भटकने पाए।

प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है। इसके बिना तो मैं बहुत पहले ही पागल हो गया होता। मैंने अनुभव किया है कि जिस तरह शरीर के लिए भोजन अनिवार्य है उसी तरह आत्मा के लिए प्रार्थना अनिवार्य है। सच तो यह है कि भोजन शरीर के लिए इतना आवश्यक नहीं है, जितनी प्रार्थना आत्मा के लिए। संसार के सबसे महान शिक्षको में से तीन महान शिक्षक बुद्ध, ईसा, मुहम्मद अपना यह अकाट्य अनुभव छोड़ गए है कि उन्हें प्रार्थना के द्वारा प्रकाश मिला और उसके बिना जीवित रह सकना संभव नहीं है।

यदि प्रार्थना में शांति पाने का दावा झूठ है तो मैं कहूँगा कि यदि इस झूठ ने मुझे जीवन का वह मुख्य आधार अथवा तत्व दिया है, जिसके बिना मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता हूँ, तो मुझ सत्यान्वेषी को यह झूठ ही मोहक लगता है।

प्रार्थना को प्रतिदिन का आवश्यक कर्त्तव्य बना लें। आत्मशुद्धि के यज्ञ में प्रार्थना की भूमिका बहुत बड़ी है। आप अपने को इसमें जितना अधिक लगाएँगे, आप अपने दैनिक जीवन में निर्भयता का उतना ही अधिक अनुभव करेंगे, क्योंकि निर्भयता आत्मशुद्धि का लक्षण और प्रतीक है।

प्रार्थना तो एक यही शोभा देती है कि ईश्वर को जो ठीक लगे करें। यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी प्रार्थना का अर्थ क्या ? इसका जबाव यह है कि प्रार्थना का स्थूल अर्थ नहीं करना चाहिए। हमारे हृदय में बसने वाले ईश्वर की हस्ती के बारे में हम जागृत हैं और मोह से छूटने के लिए घड़ी भर ईश्वर को अपने से अलग समझकर उनसे प्रार्थना करते है, यानि मन हमें जहाँ खींच ले जाता है, वहाँ हम जाना नहीं चाहते। मगर, ईश्वर हमसे भिन्न हो तो हमारा स्वामी होने के कारण वह हमें जहाँ खींचकर ले जाएगा, वहीं हमें जाना है। हम नहीं जानते कि जीने में भला है या मरने में। इसलिए न तो जीकर खुश हों और न मरने से डरें। यह समझकर कि दोनों एक से हैं, हम तटस्थ रहें, यह आदर्श है। वहाँ तक पहुँचने में देर लगती है, शायद ही कोई पहुँच सकता है। इसलिए हम आदर्श को कभी न छोड़े और ज्यों–ज्यों उसकी कठिनाई हमें महसूस होती जाए, त्यौं–त्यौं हम अपना प्रयत्न बढ़ाते जाएँ।

सामूहिक प्रार्थना तो अच्छी बात है किन्तु अकेले प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए। फिर भले ही वह एक मिनट के लिए हो। अन्त में हृदय में निरंतर ईश्वर की रटना होनी चाहिए और यह तब तक संभव नहीं है, जब तक अकेले प्रार्थना करने की आदत न हो। अकेले प्रार्थना तो सोते, स्नान करते और खाते चाहे कोई भी क्रिया करते समय की जा सकती है। इससे मन हल्का हो जाता है। ऐसा अनुभव न हो तो प्रार्थना कृत्रिम समझी जानी चाहिए।

किसी मनुष्य अथवा वस्तु को ध्यान में रखकर प्रार्थना की जा सकती है। उसका फल भी मिलता है। लेकिन निःस्वार्थ भाव से की गई प्रार्थना आत्मा और जगत के लिए अधिक कल्याणकारी होती है। प्रार्थना का प्रभाव अपने पर होता है। तात्पर्य यह है कि इससे अन्तरात्मा अधिक जागृत होती है और जैसे–जैसे जागृति आती जाती है वैसे–वैसे प्रभाव का विस्तार फैलता जाता है। प्रार्थना हृदय का विषय है। मुँह से प्रार्थना बोलने आदि की जो क्रियाएँ हैं वे हृदय को जागृत करने

के लिए हैं। यह जो निस्सीम शक्ति हमें बाहर दिखाई देती है, वही हृदय में भी है और उतनी ही व्यापक है।

प्रार्थना में श्रद्धा क्यों नहीं–श्रद्धा या तो अपने अंदर से प्राप्त की जाती है या फिर वह वहाँ स्वतः प्रगट होती है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में जो ऋषि मुनि हो गए हैं, उन्होंने निर्विवाद रूप से जिस बात की साक्षी दी है, उससे तुम्हें यह विश्वास हो जाना चाहिए। सच्ची प्रार्थना केवल ओठो से बुदबुदाई नहीं जाती। सच्ची प्रार्थना कभी झूठी नहीं पड़ती। निःस्वार्थ सेवा प्रार्थना ही है।

हे नम्रता के सागर, दीन भंगी की हीन कुटिया के निवासी ! गंगा, ब्रह्मपुत्र, यमुना के जलो से सिचिंत इस सुन्दर देश में तुझे खोजने में हमारी मदद कर। हमें ग्रहणशीलता दे, निश्छल हृदय दे, अपनी नम्रता दे, भारत की जनता से एक रूप होने की शक्ति और तत्परता दे।

हे भगवान तू तभी मदद के लिए आता है जब मनुष्य बिल्कुल नम्र बनकर तेरी शरण लेता है। हमें वर दे कि सेवक और मित्र बनकर हम जिस जनता की सेवा करना चाहते हैं, उससे अलग न पड़ जाएँ। हमें आत्मत्याग और सदगुणों के भाजन बना। हमें नम्रता की साक्षात मूर्ति बना, ताकि इस देश को हम ज्यादा समझें और ज्यादा प्रेम करें।

ईश्वर से याचना करने का अर्थ है तीव्र इच्छा करना। ईश्वर हमसे भिन्न भी है और अभिन्न भी, वह भिन्न है। क्योंकि संपूर्ण है, अभिन्न है, क्योंकि हम उसके अंश हैं। समुद्र से अलग पड़ जाने वाली बूँद यदि समुद्र से विनती न करे तो किससे करे ? प्रार्थना वियोगी का विलाप है, उसके बिना देहधारी जी ही नहीं सकता।

प्रार्थना ईश्वर को याद दिलाने के लिए नहीं की जाती। वह तो घट–घट का वासी है। बिना उसकी आज्ञा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, हमारी प्रार्थना तो सिर्फ इसलिए है कि हम अपने अंतर का शोधन करें। प्रार्थना के द्वारा तो हम खुद अपने को यह याद दिलाते हैं कि उसके अवलंबन के बिना हम सब कितने असमर्थ और असहाय

हैं। जब तक हम निश्चित रूप से यह स्वीकार न कर लें कि जिस प्रयत्न के पीछे ईश्वर का आर्शीवाद न हो, वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, निष्फल हो जाता है, प्रार्थना से हम विनम्र बनते हैं। वह तो आत्मशुद्धि की ओर ले जाती है, आत्म–निरीक्षण करने के लिए प्रेरणा देती है।

किसी व्यक्ति को रामनाम का पूरा भरोसा है। ऐसा तभी कहा जाएगा, जब उसकी श्रद्धा हार्दिक हो। यदि आपका विचार है कि आपने सफलता नहीं पाई, तो निष्कर्ष यही निकलता है कि आपकी प्रार्थना हृदय से नहीं होती, केवल मुख से निकलती है। इसका यह अर्थ नहीं कि आप सच्चे नहीं है, बल्कि इसका यह अर्थ है कि आप जो परिणाम चाहते हैं उससे प्रार्थना का कुछ संबंध है और चूँकि अच्छे हिन्दू के नाते आप प्रार्थना में विश्वास करते हैं, तो आप समझते है कि मुख से प्रार्थना या उच्चारण करके ही आपने प्रार्थना की सभी शर्तें पूरी कर दी है। मुख से उच्चारण निस्सन्देह जरूरी है, लेकिन प्रार्थना का प्रभाव देखना है तो प्रार्थना को हृदय तक पहुँचना होगा। प्रार्थना हृदय तक पहुँची है या नहीं इसकी कसौटी इस बात में है कि मुनष्य को सच्ची मानसिक शांति है या नहीं, क्योंकि प्रार्थना का अर्थ यह नहीं है कि आप जो चाहते हैं वह मिल जाए, बल्कि उसका अर्थ है कि आप हर चिन्ता से मुक्त हो जाएँ और इस बात से उदासीन हो जायें कि प्रार्थित वस्तु मिलती है या नहीं। मैं अपने जीवन से जो दृष्टांत दे सकता हूँ, वह यह कि किसी भी कठिन परिस्थिति में जब भी मुझे सन्देहों या चिन्ताओं ने घेरा है, तब प्रार्थना ने उन्हें दूर किया है, मेरा अवसाद दूर हो गया है और मुझे शांति प्राप्त हुई है।

प्रार्थना करना याचना है, यह सही है। आप कह सकते हैं कि मैं अपने आपसे अपनी उच्च आत्मा से उस वास्तविक आत्मा से याचना करता हूँ जिसके साथ मैं अभी तक पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका हूँ। आप कह सकते हैं कि जिस दिव्य तत्व में सब समाए हुए हैं, उसमें अपने आपको खो देने की सतत आकांक्षा करना ही प्रार्थना है।

प्रार्थना से मैं अपने अंदर के उस दिव्य तत्व को जागृत करने का प्रयत्न करता हूँ जो जड़ चेतन सभी पदार्थों में विद्यमान है। जब तक मनुष्य अपने आपको शून्य नहीं बना लेता तब तक उसे ईश्वर या प्रार्थना का अर्थ मालूम हो ही नहीं सकता।

जब सर्वथा व्यग्र, विभ्रान्त हो जाता हूँ, इन्हीं अवसरो पर हमें ईश्वर की झाँकी मिलती है। उसके दर्शन होते हैं जो जीवन में हर कदम पर हमें रास्ता बता रहा है। यही प्रार्थना है।

जिस दिव्य तत्व में सब समाए हुए हैं, उसमें अपने आपको खो देने की सतत आकांक्षा करना ही प्रार्थना है।

मेरे जीवन का एक–एक क्षण नए कर्म, अतीत के अशुभ कर्मों को धो डालने और वर्त्तमान की अभिवृद्धि का प्रयास है। अतः यह कहना गलत है कि चूँकि मेरा अतीत अच्छा है इसलिए मेरे साथ इस समय अच्छी–अच्छी बातें हो रही हैं। अतीत तो शीध्र ही चूक जाएगा और मुझे अपने भविष्य को प्रार्थना के सहारे निर्मित करना है। मैं आपको बता दूँ कि केवल कर्म कुछ नहीं कर सकता। मैं अपने आपसे कहूँ कि माचिस जलाओ और फिर भी अगर बाहरी सहयोग न हो तो मैं उसे जला नहीं सकूँगा। मैं माचिस जलाने लगूँ इससे पहले ही यदि मेरे हाथ को लकवा मार जाए या मेरे पास एक ही तीली हो और हवा का झोंका उसे बुझा दे तो? यह मात्र एक दुर्घटना है या ईश्वर अथवा कोई उच्चतर शक्ति है? मैं अपने पूर्वजों या बच्चों की भाषा का प्रयोग करना बेहतर समझता हूँ। मैं किसी बच्चे से बेहतर नहीं हूँ। हम ज्ञानियों की तरह और पुस्तकों के बारे में बात करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, लेकिन जब यथार्थ से पाला पड़ता है, जब हमें किसी संकट का सामना करना होता है तब हम बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं और रोने पीटने और प्रार्थना करने लगते हैं। उस समय हमारा बौद्धिक विश्वास हमें कोई सांत्वना नहीं देता।

ईश्वर का विधान नहीं बदलता लेकिन चूँकि उसी विधान का कहना है कि प्रत्येक कार्य का परिणाम अवश्य निकलता है, इसलिए

यदि कोई व्यक्ति प्रार्थना करता है तो ईश्वर के विधान के अनुरूप उसका ऐसा परिणाम अवश्य निकलता है। जिसका पहले से कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

ईश्वर को जानते नहीं तो प्रार्थना कैसे करें :—

प्रार्थना उस ईश्वर की करनी चाहिए जिसे हम नहीं जानते—हम जिस व्यक्ति से प्रार्थना करते हैं उसे जानते ही हैं, ऐसा नहीं होता। यही बात ईश्वर के संबंध में भी है और चूँकि उसे जाना जा सकता है इसलिए हम उसे ढूँढ़ते हैं। उसे पाने में हमें कदाचित अरबों साल लग जाएँ लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यदि आप विश्वास नहीं भी करते हैं तो भी आपको प्रार्थना करते रहना चाहिए। अर्थात ईश्वर की खोज जारी रखनी चाहिए। आपके अंदर असीम धैर्य और आत्मिक लालसा होनी चाहिए। आत्मिक लालसा होने पर सारे संशय दूर हो जाते है।

प्रार्थना हृदय की स्वाभाविक तरंग सी होनी चाहिए। यदि प्रार्थना भार मालूम हो तो नहीं करनी चाहिए। ईश्वर मनुष्य की प्रार्थना या प्रंशसा का भूखा नहीं है। वह सब सहन करता है। क्योंकि वह प्रेम से परिपूर्ण है। अगर आप महसूस करें कि आप सकल पदार्थों के देने वाले परमात्मा के ऋणी हैं, तो आपको केवल कृतज्ञता के कारण ही उसकी प्रार्थना करनी चाहिए। किसी के उपहास या नाराजगी के भय से किसी को अपने स्रष्टा के प्रति अपने मूलभूत कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए।

प्रार्थना मेरा जीवन है। मेरे विचार में जो व्यक्ति प्रार्थना नहीं करता, वह नीरस और हर प्रकार से विपन्न व्यक्ति है। मैं नहीं जानता कि हमें परलोक में मोक्ष मिलेगा अथवा नहीं। मैं तो इसी लोक में मोक्ष का आकांक्षी हूँ और मुझे परलोक की कोई चिन्ता नहीं। लेकिन चूँकि मैं एक सामाजिक प्राणी हूँ इसलिए मैं केवल अपने लिए मोक्ष नहीं चाहता। यही कारण है कि मैं आप सबको प्रार्थना में शामिल करना चाहता हूँ।

मैं इस बात से सहमत हूँ कि अगर कोई चौबीस घंटे ईश्वर की उपस्थिति की अनुभूति का अभ्यास कर लेता है, तो उसको प्रार्थना करने के लिए अलग से किसी समय की जरूरत नहीं है।

जब क्रोध, घृणा, आदि का बोलबाला हो और लोग भय और घबराहट तथा सामूहिक उन्माद के वशीभूत हो रहें हों, तब प्रार्थनाशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने को इस तूफान की पहुँच से उपर रखकर पाशविकता के स्तर पर उतरने से इंकार कर दें। हमें भगवान से घृणा और क्रोध को मन में दबा लेने की शक्ति देने की प्रार्थना करनी चाहिए। क्रोध, द्वेष और अन्य सभी तरह की निम्नतर वृतियों पर विजय पा लेना ही प्रार्थना का फल है।

जब हम रेलगाड़ी के समय के बाद जाएँ तो गाड़ी चूकते हैं। प्रार्थना के समय न पहुँचें तो ?

प्रार्थना की जगह आकर ईश्वर का नाम लेना और यहाँ से बाहर जाते ही उसे भूल जाना प्रार्थना नहीं बल्कि ईश्वर की निन्दा है।

हे प्रभु मैं हाथ जोड़कर विनती करता हूँ कि तूँ मुझे सच्चा ज्ञान और अपनी जिंदगी का एक—एक पल अपनी सृष्टि की सेवा में लगाने की योग्यता दे।

प्रार्थना से आंतरिक शक्ति मिलती है।

आश्रम की प्रार्थना में ईश्वर से कोई चीज माँगी नहीं जाती। परमात्मा से यही कहा जाता है कि वह हमें और अच्छा इंसान बनाए। यदि प्रार्थना सचमुच हृदय से निकले तो ईश्वर की कृपा हमारे ऊपर जरूर होगी। ईश्वर की इच्छा के बिना घास का एक तिनका भी नहीं हिलता। कोई भी सच्चा विचार ऐसा नहीं है जो चरित्र पर अपनी छाप न छोड़े। इसलिए रोज प्रार्थना करने की आदत डालनी चाहिए।

यदि प्रार्थना में तुम्हारा मन न भी लगे तो भी उसमें जाना चाहिए। हम अपने को एकाग्र करने के लिए प्रार्थना में जाते हैं, जिनका चित्त एकाग्र हो गया है वे प्रार्थना में जाएँ या न जाएँ एक सी बात है। हम तो केवल इतना ही कर सकते हैं कि अपने मन को जान बूझकर

भटकने न दें। ऐसा करने से ही हम एक दिन तुलसीदास की भाँति रामनाम में लीन हो सकेंगे।

शुद्ध हृदय से प्रार्थना वही कर सकता है, जो अपनी प्रार्थना के अनुरूप कार्य करने वाला हो।

प्रार्थना का अर्थ ईश्वर से सांसारिक सुख अथवा स्वार्थ साधने की अन्य वस्तुओं की माँग करना नहीं है। प्रार्थना कष्ट सहने वाले के आत्मा की गंभीरनाद है। उसका संसार पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता और उस प्रार्थना की ईश्वर के दरबार में सुनवाई हुए बिना नहीं रहती।

मनुष्य एक व्यक्ति के साथ–साथ सामाजिक प्राणी भी है, समाज का सदस्य है। व्यक्ति के रूप में चाहे तो वह निद्रा के समय को छोड़कर शेष सारे समय प्रार्थना रत रह सकता है। परंतु समाज के सदस्य के रूप में उसे सामूहिक प्रार्थना में भी शामिल होना चाहिए। मैं तो जब भी एकांत पाता हूँ, प्रार्थना कर लेता हूँ, परंतु यदि सामूहिक प्रार्थना न हो तो मुझे बड़ा अकेलापन लगता है।

मैं नहीं जानता कि जिनके लिए प्रार्थना की जाती है, उनके जीवन काल में ऐसी प्रार्थनाओं से एक पल की भी वृद्धि होती है या नहीं। लेकिन उससे वे व्यक्ति ऊँचा उठते हैं जो प्रार्थना करते हैं और जिनके लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं, उन लोगों के मन को शांति मिलती है। आराम होने से जीवन की वृद्धि दिखाई देती है।

सब कुछ छोड़ा जा सकता है, लेकिन प्रार्थना हरगिज नहीं छोड़ी जा सकती। प्रार्थना तो हमारे मन को स्वच्छ करने वाला झाड़ू है। उसे छोड़े तो हमारे मन में कचरा और जालें भर जायें और हमारी आत्मा गन्दी हो जाए।

प्रार्थना में आकर या तो लीन हो जाएँ या न आएँ अर्थात जो शरीर मात्र वहाँ लाए और मन दूसरी जगह रखे वह सत्य भंग करता है।

1

रामनाम

राम नाम का जप निरंतर जारी रखें। ऐसा करने से ही हमारा स्वार्थ सिद्ध होगा और हमें जो स्वार्थ सिद्ध करना है, यही ईश्वर की प्राप्ति है। अतः जप निरंतर चलता रहे।

खेती करते, खाते, खेलते, घूमते, नहाते अथवा अन्य कोई भी कार्य करते समय हरि का नाम लेना उचित ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य है। जो राममय होना चाहें और उसका प्रयत्न करें तो उसके लिए अमुक समय की आवश्यकता नहीं है।

विषयों को जीतने का स्वर्णिम नियम तो रामनाम अथवा ऐसे ही किसी दूसरे मंत्र का जप करना है। द्वादश मंत्र (ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय) भी यही काम करता है। हमें अपनी भावना के अनुसार मंत्र का जप करना चाहिए। मुझे बचपन से रामनाम सिखाया गया और उसका सहारा मुझे बराबर मिलता रहता है। हमें जो भी मंत्र जमे उसमें तल्लीन हो जाना चाहिए। यदि मंत्र जपते समय दूसरे विचार आएँ तो कोई चिन्ता नहीं, फिर भी यदि हम श्रद्धा रखकर मंत्र का जप करते रहेंगे तो अंत में सफलता अवश्य प्राप्त करेंगे। मुझे इसमें रत्ती भर भी शक नहीं। यह मंत्र मनुष्य की जीवन डोर बनेगा और उसे सारे संकटों से बचाएगा, किसी को भी ऐसे पवित्र मंत्रों का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए हरगिज नहीं करना चाहिए। इस मंत्र का चमत्कार हमारी नीति को सुरक्षित रखने में है और यह अनुभव प्रत्येक साधक को थोड़े समय में ही मिल जाएगा। हाँ हमें इतना याद रखना है कि कोई भी इस मंत्र को तोते की तरह न रटे, उसमें हमें अपनी सारी आत्मा लगा देनी चाहिए।

जिसके हृदय में न तो राम नाम है और न ईश्वर में श्रद्धा है, उसे मेरी सलाह है कि वह करोड़ों के अनुभव पर श्रद्धा रखे। संसार ईश्वर के होने से कायम है। राम नाम ईश्वर का एक नाम है, राम

नाम न रूचे तो ईश्वर की उपासना अपनी मर्जी के किसी दूसरे नाम से कर सकता है। अजामिल का उदाहरण झूठ है, मानने का कोई कारण नहीं। बल्कि यह है कि ईश्वर का नाम लेता वह पार हो गया या नहीं। पौराणिकों ने मनुष्य जाति के अनुभवों का जो वर्णन किया है उनकी अवहेलना करना इतिहास की अवहेलना है। माया के साथ संघर्ष तो चल ही रहा है। अजामिल जैसों ने युद्ध करते हुए नारायण नाम का जप किया है। मीरा बाई उठते–बैठते सोते–जागते, खाते–पीते, गिरिधर का नाम जपती थी। युद्ध के बदले में राम नाम नहीं लिया जा सकता बल्कि युद्ध करते हुए उसका जप युद्ध को पवित्र बनाता है। राम नाम लेने वाला, द्वादश, मंत्र जपने वाला व्यक्ति माया के साथ संघर्ष करते हुए नहीं थकता बल्कि माया को ही थका देता है। "माया मोहित करे सभी को, हरिजन से वह हारी।"

राम नाम के जप का संबंध हृदय से है। जहाँ वाणी और मन में एकता नहीं, वहाँ वाणी केवल मिथ्या चीज है, दम्भ है, शब्दजाल है। ऐसे जप से चाहे संसार भले धोखा खा जाए, पर वह अन्तर्यामी राम कहीं धोखा खा सकता है?

राम नाम तोते की तरह रामनाम रटना नहीं है। राम नाम का उच्चारण तो हृदय से किया जाना चाहिए।

मेरी नम्र सम्मति तो यह है कि मनुष्य को फल का विचार छोड़कर विकास के लिए परिश्रम करना ही चाहिए। राम नाम या कोई ऐसा ही पवित्र नाम जरूरी है–महज उच्चारण के लिए ही नहीं आत्मशुद्धि के लिए हमारे प्रयत्न को सहारा देने के लिए और ईश्वर से सीधा मार्गदर्शन पाने के लिए। इसलिए रामनाम कभी भी परिश्रम का स्थान नहीं ले सकता। वह तो परिश्रम को अधिक बलयुक्त बनाने और उसे उचितमार्ग पर ले जाने के लिए है।

आत्मशुद्धि के लिए निरंतर ईश स्मरण करें। आस्तिक मानता है कि ईश्वर अन्तर्यामी है, नींद में भी हमारी चेष्टाएँ देखता है। इसलिए हमें चौबीसों घंटे सावधान रहना चाहिए। कोई भी मानसिक अथवा

शारीरिक क्रिया करते समय ईश्वर के नाम को नहीं भूलना चाहिए। उसका नाम सारे पापों को हरने वाला है। थोड़ी मेहनत करने के बाद प्रत्येक इस बात का अनुभव कर सकेंगे कि कोई भी काम या विचार करते हुए ईश्वर का स्मरण करना संभव है। एक समय में व्यक्ति एक ही बात पर विचार कर सकता है; यह नियम ईश स्मरण पर लागू नहीं होता, क्योंकि ईश्वर का स्मरण करना आत्मा का स्वाभाविक गुण है। दूसरे विचार तो उपाधि रूप हैं। जो व्यक्ति यह मानता है कि सब कुछ ईश्वर करता है और उसी के ध्यान में लीन रहता है, उसे सोचने अथवा करने के लिए क्या रह जाता है? वह स्वयं मिटकर ईश्वर के हाथ का साधन मात्र रह जाता है। ऐसे ईश–स्मरण के बिना मन, कर्म और वचन से मैं शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने की बात को असंभव मानता हूँ।

मैं रामनाम का प्रचार इसके लिए नहीं कर पाता। क्योंकि मैंने बहुत से स्थानों में केवल आडम्बर के लिए, कुछ स्थानों में अपने स्वार्थ के लिए और कुछ जगहों में व्यभिचार करने के लिए उसका जाप होते हुए देखा है। हमने पढ़ा है शुद्ध हृदय से लोगों ने उल्टा जाप करके भी मुक्ति प्राप्त की है, किन्तु शुद्धोचारण करने वाले पापी पाप की पुष्टि के लिए राम नाम के मंत्र का जप करेंगे तो हम उसे क्या कहेंगे? इसलिए मैं रामनाम का प्रचार करने से डरता हूँ।

रामनाम का जाप राग द्वेष आदि का संपूर्ण नाश–आत्मदर्शन का यही एक उपाय है। मैं रामनाम एवं द्वादश मंत्र का पुजारी हूँ, किन्तु मेरी पूजा अंधी नहीं है। जिनमें सत्य है उसके लिए रामनाम नौका रूप है। पर मैं यह नहीं मानता कि जो ढोंगी रामनाम रटता है, उसका उद्धार होगा। अजामिल के जो दृष्टांत दिए जाते हैं, वे काव्य हैं और उनमें भी रहस्य है, उनके बारे में शुद्ध भावना का आरोपण है। "रामनाम" से मेरे विषय शांत होंगे–यह मानने वाले को राम नाम फलता है, तारता है और जो ढोंगी यह मानकर कि राम नाम से अपना उल्लू सीधा करूँ, राम नाम लेता है, वह तरता नहीं डूबता है।

रामनाम बुद्धि से नहीं लिया जा सकता। वह तो श्रद्धा से लेना चाहिए और उससे शांति मिले या ना मिले, उसे न लेने का विचार करें तो यह माना जाएगा कि श्रद्धा नहीं रही है। शांति मिले या न मिले, सुख मिले या दुख किन्तु रामनाम लेना ही ठीक है। यह विश्वास रखकर हम रामनाम जपते रहें, कभी हारें नहीं।

राम नाम को विस्तृत अर्थ में लेना चाहिए। वास्तव में राम नाम तो जाने अनजाने हमेशा मन मे होना चाहिए।

नाम जपने से जड़ से जड़ मनुष्य में भी चेतनता आ सकती है। शर्त्त एक ही है कि नाम का जप किसी को दिखाने के लिए न हो। किसी को धोखा देने के लिए न हो। नाम संकल्प और श्रद्धा के साथ जपना चाहिए। इसमें मुझे कोई शंका नहीं कि इस तरह जपते हुए जो आदमी थकता नहीं, उस आदमी के लिए नाम कल्पतरू हो जाता है। जिन्हें धीरज है वे सब अपने लिए इसे सिद्ध कर सकते हैं। पहले–पहल किसी का दिनों और किसी का वर्षो तक इस जप के समय मन भटका करेगा, बैचेन रहेगा, नींद आएगी और इससे भी ज्यादा दुखद परिणाम आएगा तो भी जो जपता रहेगा, उसे यह जप जरूर फल देगा–इसमें संदेह नहीं। श्रद्धा दृढ़ हो जाए तो चलते–फिरते, खाते–पीते, सोते–उठते यही रटना लगाएँ और हारने का नाम न लें। भले ही सारा जन्म इसी मे बीत जाए।

बुद्धि से जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म को जानता ही नहीं। ब्रह्मज्ञान हृदय में होता है। जो ब्रह्मज्ञानी रामनाम से दूर भागता है, वह अज्ञान द्वीप में पड़ा हुआ है और धोखा खा रहा है।

नामस्मरण से पापों का परिष्कार होता है। शुद्ध भाव से नाम स्मरण करने वाले व्यक्ति के मन में श्रद्धा अवश्य होती है। पाप का परिष्कार अर्थात आत्मशुद्धि। श्रद्धापूर्वक नाम जपने वाला कभी नहीं थकता। तात्पर्य यह है कि जो नाम स्मरण जिह्वा से होता है वह अन्ततः हृदय में बैठता है और उससे आत्मशुद्धि होती है। ऐसा अनुभव अपवाद रहित है। मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि मनुष्य जैसा

सोचता है वैसा ही हो जाता है। रामनाम मे यही बात लागू होती है। नाम–स्मरण पर मेरी अटूट श्रद्धा है। नाम–स्मरण का शोध करने वाला व्यक्ति अनुभवी था और यह शोध अत्यन्त महत्व की है। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अनपढ़ व्यक्ति के लिए भी शुद्धि का द्वार खुला होना चाहिए। यह नाम स्मरण से संभव है। माला आदि तल्लीन होने में, गिनती करने में, साधन रूप हैं।

तुम नाम जप के साथ मित्र सम चिपके रहो। जब कहीं से सहायता नहीं मिलेगी, तब भी इससे तो अवश्य मिलेगी।

परमेश्वर का ध्यान उसका नाम लेकर किया जा सकता है। परमेश्वर को भजने का उत्तम मार्ग यह है कि सबमें उसके दर्शन किए जाएँ और सबकी प्रेम–भाव से सेवा की जाए।

रामनाम और ऊँकार दोनों एक ही चीज है। जप करते हुए मन स्थिर नहीं रहता, इसी कारण तो तुलसीदास ने नाम की महिमा गायी है। यदि श्रद्धापूर्वक कोई भी आदमी जपेगा तो अंत में वह स्थित चित होगा ही, ऐसा सब शास्त्रों की प्रतिज्ञा है और ऐसा जप करने वालों का अनुभव है।

मुझमें जो भी बल है, वह राम का है मेरा अपना कुछ नहीं है।

राम और कृष्ण के लाखों भक्तों के जीवन इन्हीं नामों से, ईश्वर की उपासना करते–करते बिल्कुल बदल गए हैं। यह कैसे होता है, मुझे नहीं मालूम। यह एक रहस्य है। मैंने इसे सिद्ध करने की कोशिश भी नहीं की है। यद्यपि मेरी बुद्धि और हृदय ने बहुत पहले ही यह समझ स्वीकार लिया है कि ईश्वर का सबसे बड़ा गुण और उसका नाम सत्य है। लेकिन मैं सत्य को राम के नाम से ही जानता हूँ। मेरी परीक्षा की कठिनतम घड़ी में इस नाम ने ही मेरी रक्षा की है और आज भी कर रही है।

तुम्हारे लिए, मेरे लिए और जिन्हें विश्वास है उन सबके लिए रामनाम अचूक औषधि है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। रामनाम निर्दोष और निरोगी व्यक्ति के लिए नहीं, वरन हम जैसे दोषपूर्ण और व्याधिग्रस्त मनुष्य के लिए है।

रामनाम जपने के लिए कहते हुए मैं आपको एक ऐसा नाम दे रहा हूँ जिसकी पूजा इस देश की जनता न जाने कितनी पीढ़ियों से करती आ रही है। एक ऐसा नाम जो हमारे पशुओं, पक्षियों, वृक्षों और पाषाणों तक के लिए हजारों–हजार वर्ष से परिचित रहा है। राम का नाम आपको इतनी मधुरता और इतनी भक्ति के साथ लेना सीखना चाहिए कि उसे सुनने के लिए पक्षी अपना कलरव बंद कर दें, उस नाम के दिव्य संगीत पर मुग्ध होकर वृक्ष भी अपने पत्र आपकी ओर झुका दें।

प्रश्न यह उठता है कि नाम कैसे लिया जाए? जब मन में तरह–तरह के विचार आते हैं, तो नाम जपने से क्या लाभ? नाम जपना हो तो हृदय से जपना चाहिए या फिर जपना ही नहीं चाहिए। यह कहना सही भी है और नहीं भी। यदि कोई व्यक्ति दिखाने के लिए नाम जपता है, तो कोई सार नहीं, उल्टे यह पाप है। क्योंकि यह तो ढोंग हुआ। किन्तु शुद्ध वृत्ति से नाम जपना चाहने पर भी जप के बीच नाना प्रकार के विचार मन मे उठते ही रहते हैं। ऐसा होने के बावजूद हार नहीं माननी चाहिए। मन में अन्य विचार आने पर भी नाम जपते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने से किसी दिन यह नाम हृदय में अंकित हो जाएगा। नाम की जो महिमा गाई गई है, इसका कारण यही है। अनपढ़ और मूर्ख भी नाम तो जप ही सकता है। नाम जप तो एक क्षण में सीखा जा सकता है। उस के बाद तो जपते ही रहना है। ऐसा करते हुए ऐसी टेब पड़ जाएगी कि उस के बिना अच्छा ही नहीं लगेगा। यदि ऐसी टेब पड़ जाए कि खाते–पीते, सोते–बैठते नाम जप चलता ही रहे तो कहा जा सकता है कि नाम उसके हृदय में उतर गया है।

मेरे लिए तो रामनाम ही सब कुछ है। ईश्वर की जितनी भी विभूतियाँ है उतने ही उसके नाम हैं। भक्तों द्वारा लिए जाने वाले इन नामों की कल्पना ऋृषियों ने अपनी आजीवन तपस्या के बल पर इस लिए की है कि नामहीन परमेश्वर के साथ हम आत्मीयता का नाता

जोड़ सकें। यह मेरे जीवन का अंग बन गया है यह अभ्यास (राम जप) ही मेरा स्वाभाव बन गया है। मैं यह भी कह सकता हूँ कि यह शब्द मेरे जीभ पर भले ही न हो, चौबीसो घंटे मेरे मानस पटल पर अंकित रहता है। यह सदैव मेरा त्राण–कर्त्ता रहा है और मैंने सदैव इस पर भरोसा किया है।

राम से बड़ा नाम है अर्थात देहधारी राम से देहातीत, अरूपी, अनामी राम बड़ा है। दशरथनन्दन सीतापति सही तदपि हमारी कल्पना के पूर्ण पुरूषोत्तम राम हैं। क्योंकि (अव्यक्त है अतः) अव्यक्त भी व्यक्त से भिन्न नहीं हैं। अव्यक्त की यह सब माया है। राम शब्द पर मेरा कोई आग्रह नहीं– ओंकार, कृष्ण, ईश्वर कुछ भी कहें।

जिसका मन ईश्वर में रम गया हो, उसे बुढ़ापा नही ंआता। हाँ शरीर क्षीण होता है, किन्तु वह तो उसका धर्म ही है। मन का क्षीण होना जरूरी नहीं है। वह तो लगातार आगे बढ़ता हुआ अंत में ईश्वर में लीन हो जाता है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए निर्बल हुआ मन क्या करेगा? इसका एकमात्र उत्तर तो नाम स्मरण ही है। अतः मेरी यह प्रार्थना है कि दृढ़ संकल्पपूर्वक सभी वस्तुओं से चित्त को हटाकर केवल नाम स्मरण करें। यह मन को सर्वथा तेजस्वी बना देगा। मन की जीर्णावस्था मिट जाएगी और युवावस्था की अनुभूति होगी। किसी भी प्राणी अथवा वस्तु के विषय में ममत्व हो तो मेरी प्रार्थना है कि उसे बिल्कुल निकाल दें।

राम नाम का जप कुछ भी सेवा कार्य करते हुए करना मुझे तो उत्तम लगता है। लेकिन जिसको इसमें शांति नहीं मिले, वह एकांत में बैठकर शांति से नाम ले।

प्रत्येक जप मे ंनूतन अर्थ रहता है। प्रत्येक जप मनुष्य को भगवान के अधिक समीप ले जाता है। यह बिल्कुल सच्ची बात है और जब मैं आपसे यह कहता हूँ कि तब आपको यह जानना चाहिए कि आप किसी सिद्धांतवादी से नहीं बल्कि एक ऐसे व्यक्ति से बात कर रहे हैं, जिसने इस वस्तु का अनुभव जीवन में प्रत्येक क्षण में किया है। मैं तो

यहां तक कहूँगा कि किसी बार यह तो हो सकता है कि मेरे हृदय का स्पन्दन एकाएक रूक जाए पर इस अविराम क्रिया का बंद हो जाना इतना आसान नहीं है। यह हमारी आत्मा की भूख है।

ईश्वर का नाम ही सहारा है। प्रभु का यह वचन है कि जो भी अपने को निर्बल और असहाय समझकर उसकी शरण में आता है, उसकी तमाम निर्बलता को वह हर लेता है। भक्त सूरदास ने यही तो गाया है कि "सुने री मैंने निर्बल के बल राम।" यह बल अस्त्र–शस्त्रों से या इसी प्रकार के अन्य साधनों से प्राप्त नहीं होने का। यह बल तो उस अशरण–शरण राम के नाम स्मरण में सर्वतोभावेन तन्मय हो जाने से ही प्राप्त हो सकता है। राम तो भगवान का केवल एक नाम है उसे आप गॉड, अल्लाह, ईश्वर जिस नाम से पुकारना चाहें पुकार सकते हैं। उसी क्षण आपके अन्दर शक्ति आ जाएगी। आपकी सारी निराशा दूर हो जाएगी जब आप सर्वाश्रय छोड़कर एक ईश्वर का ही आश्रय ले लेंगे। गजेन्द्र को ग्राह ने ग्रस लिया तब पैर छुड़ाने का उसने बहुत जतन किया पर सब बेकार गया। अन्त में अपने को सर्वथा निर्बल निःसहाय पाकर ज्यौं ही हरि का नाम स्मरण किया त्यौं ही भगवान ने उसे छुड़ा लिया। गजेन्द्र मोक्ष एक रूपक है। पर उसके अंदर एक महान सत्य छिपा हुआ है। मैंने इस सत्य को अपने जीवन में बार–बार अनुभव किया है। घोर से भी घोर निराशा के समय जब इस दुनिया में न तो कोई हमारा सहायक दीखता है और न कोई सहारा, तब भगवान का अमोघ नाम ही हमें बल और स्फूर्ति प्रदान करता है और हमारे तमाम संशय तथा हमारी निराशा को एक क्षण में दूर कर देता है। निराशा की काली–काली घटाएँ घिरी, दिखाई देती हों, पर उन्हें छिन्नभिन्न कर देने के लिए हमारे अन्तस्थल से निकली हुई प्रार्थना काफी है। इस प्रार्थना की ही बदौलत मैंने अपने जीवन में निराशा जैसी चीज कभी जाना ही नहीं।

अनेक संगीत के साथ एकतारा मिल जाता है, उसकी जगह कोई दूसरा वाद्ययंत्र नहीं लेता। जैसे एकतारा सुर पूर्ति करता है ऐसे

ही रामनाम। अगर हमारे हृदय मे रामनाम अंकित हो जाता है, तो नींद में जैसे श्वाँस चलती है, ऐसे ही रामनाम चलता है।

यदि माला से कुछ प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता तो भी श्रद्धा से चलाती रहो। किसी रोज प्रत्यक्ष लाभ देखोगी।

रामनाम का मेरा स्मरण 24 घंटे चलता है इसका मतलब यह नहीं कि मैं जानता हूँ। लेकिन संकल्प है कि 24 घंटों तक चलें और चलता है, जैसे श्वाँसोच्छवास।

रामनाम स्मरण जब श्वासोश्वासवत् स्वाभाविक होता है तब दूसरे कामों में विघ्नकर नहीं होता, लेकिन बल देता है। तंबूरा का सुर दूसरे सुरों को बल देता है। ऐसे इसके दो काम एक समय में करने का दोष नहीं आता। आँख अपना काम करती, है कान अपना। सब एक साथ होता है। मेरे दूसरे कार्यों को राम नाम सरल करता है, सफल भी। उसका स्वरूप अवर्णनीय है, अनुभवगम्य है।

हम बूढ़े, बच्चे, जवान, धनिक, गरीब सबको मरते हुए पाते हैं, तो भी संतोष से बैठना नहीं चाहते हैं। लेकिन थोड़े दिन जीने के लिए राम को छोड़ सब प्रयत्न करते हैं।

मैं महात्मा नहीं हूँ। मैं तो आपकी तरह साधारण मनुष्य हूँ। लेकिन मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक श्वाँस के साथ मैं ईश्वर का नाम जपता हूँ और जो भी काम करता हूँ, ईश्वर को साक्षी मानकर करता हूँ।

रामनाम में सब कुछ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–ऐसा क्रम है। अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष का विरोधी नहीं हो सकता है। इसलिए अर्थ = अन्न, वस्त्रादि आवश्यक वस्तु, काम = शुभइच्छा। राम नाम परिस्थिति और काल से अतीत है। लेकिन वह नाम कंठ से नहीं हृदय से निकलता है, अभ्यास से निकलता ही है।

राम नाम में इतना आर्कषण है कि वह मनुष्य के संपूर्ण विचार और अस्तित्व को अपने में लीन कर सकता है; इसीलिए मैंने आपसे कहा है कि रामनाम लेते समय लय के साथ ताली दें।

अनुभव कहता है कि मनुष्य किसी भी हालत में, सोता भी क्यों न हो, अगर आदत हो गई है और नाम हृदस्थ हो गया है तो जब तक हृदय चलता है, तब तक रामनाम हृदय में चलते ही रहना चाहिए। अन्यथा यह कहा जाएगा कि मनुष्य जो रामनाम लेता है, वह उसके कंठ से ही निकला है अथवा कभी–कभी हृदय तक पहुँचता है। लेकिन हृदय पर नाम का साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ है। जब नाम ने हृदय का स्वामित्व पाया है, तब जप कैसे करते हैं। यह सवाल पूछा ही न जाए। क्योंकि जब नाम हृदय में स्थान लेता है, तब उच्चारण की आवश्यकता ही नहीं है। यह कहना ठीक होगा कि इस तरह रामनाम, जिनको हृदयस्थ हुआ है, ऐसे लोग कम होंगे। जो शक्ति रामनाम में मानी गई है, उसके बारे में मुझे कोई शक नहीं है।

कठिन सेवा कार्य हो या उससे भी कठिन अवसर हो तो भी भगवदभक्ति यानी रामनाम बंद हो ही नहीं सकता। इसका बाह्य रूप प्रसंगवशात बदलता रहेगा। माला छूटने से रामनाम जो हृदय में अंकित हो चुका है, थोड़े छूट सकता है।

हर एक आदमी इच्छामात्र से रामनाम को अपने हृदय में अंकित नहीं कर सकेगा। उसमें अथक परिश्रम की आवश्यकता है, धीरज की भी है। पारसमणि को हासिल करने के लिए धीरज क्यों न हो? नाम तो उससे भी अधिक है।

मेरा विश्वास है कि रामनाम लेने का महत्व है। जो आदमी जानता है कि राम सचमुच उसके दिल में हैं, उसे रामनाम का उच्चारण करने की जरूरत नहीं, यह मैं स्वीकार कर सकता हूँ। लेकिन ऐसे आदमी को मैं नहीं जानता, इससे उल्टा मुझे व्यक्तिगत अनुभव है कि रामनाम रटने में कुछ चमत्कार है। वह क्यों और कैसे, यह जानने की जरूरत नहीं।

रामनाम का जाप हृदय से लिया जाए तो वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक हर प्रकार के कष्ट का अचूक इलाज है। रामनाम का उच्चारण हृदय से होने के लिए प्रयत्न जारी रखें और असीम धीरज

से काम लें। किसी व्यक्ति को चिकित्सक बनने के लिए कम से कम 16 साल के कठोर श्रम की जरूरत पड़ती है, फिर सोचिए कि मन में रामनाम को बसा लेने के लिए कितने अधिक समय की आवश्यकता है।

रामनाम एक अचूक उपाय है। हृदय से रामनाम जपने से सभी बुरे विचार नष्ट हो जाते हैं और बुरे विचारों के हट जाने पर उस तरह के काम करने का प्रश्न ही नहीं उठता। मन के कमजोर होने की स्थिति में सभी उपाय व्यर्थ हैं। मन ही आदमी का निर्माण करता है, उसका नाश भी।

रामनाम कुछ लोगों के लिए बल्कि सबके लिए है। जो रामनाम लेता है, वह अपने लिए भंडार जुटाता है। आप उसमें से जितना ज्यादा लेंगे वह उतना ही बढ़ता है–वह अनन्त है। रामनाम शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरह के रोगों में अचूक दवा है। रामनाम ईश्वर के असंख्य नामों में सिर्फ एक है। आप राम न कहकर कृष्ण कहें या उसके असंख्य नामों में से कोई भी नाम लें, उसमें कोई अंतर नहीं पड़ेगा।

यदि बुरे विचार आपको परेशान करते हैं या वासना और लोभ आपको त्रस्त करते है, ऐसा है तो छुटकारे के लिए रामनाम से बड़ा मंत्र कोई नहीं है। मान लीजिए आपको किसी आसान और बेईमानी के तरीके से बड़ी संपत्ति जोड़ने की लालसा हो रही हो। यदि आपका रामनाम में विश्वास है तो आप अपने मन से कहेंगे मैं अपनी पत्नी और बच्चों के लिए धन–संग्रह क्यों करूँ? हो सकता है वे लोग उसका अपव्यय करें? रामनाम के निरंतर जाप से आपका मोह और भ्रामक आसक्ति मिट जाएगी और आपको इस बात का सजग बोध होगा कि आप अपने परिजन को समस्त बंधनों और संसार के चक्कर से मुक्ति दिलाने वाले रामनाम रूपी अमूल्य निधि देने के बदले उनके लिए धन संग्रह की लालसा में पड़कर कितना मूर्खता पूर्ण कार्य कर रहे हैं।

जो मनुष्य रामनाम में विश्वास रखता है वह शरीर के प्रति मोह नहीं रखता बल्कि उसे ईश्वर की सेवा का एक साधन मानता है और उस सेवा को उत्तम साधन बनाने का सर्वोपरि उपाय रामनाम ही है।

रामनाम को हृदय मे प्रतिष्ठित करने के लिए अनन्त धैर्य की आवश्यकता होती है। उसमें कई युग तक लग सकते हैं, फिर भी वह प्रयत्न करने योग्य है। मगर प्रयत्न करने पर भी सफलता केवल भगवत्‌कृपा पर ही निर्भर है।

जब तक मनुष्य अपने अंदर और बाहर सत्य, ईमानदारी और शुद्धता के सद्‌गुणों का विकास नहीं करता, तब तक रामनाम हृदय से नहीं निकल सकता।

जो आदमी रामनाम का जप हृदय से करेगा उसमें अनुशासन और आत्मसंयम सहज ही आ जाएँगे। स्वास्थ्य और सफाई के नियमों का पालन करना उसका स्वाभाव बन जाएगा। उसका जीवन नियम बद्ध चलने लगेगा। वह किसी को दुखी नहीं करना चाहेगा। दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए स्वयं मिट जाएगा और उसे अकथनीय और शाश्वत आनंद से भर देगा।

हम जागते समय सदा धैर्यपूर्वक रामनाम का जप करते रहें। अंत में ऐसी स्थिति आएगी कि वह सुप्तावस्था में भी हमारा साथ नहीं छोड़ेगा और तब भगवत्कृपा हमारे शरीर, मन और आत्मा को पूर्ण स्वस्थ और परिपूर्ण कर देगा।

क्या आप अपने दैनिक जीवन में राम का अनुकरण करते हैं। जाप, रामनाम का करना और आचरण रावण जैसा करना बुरी बात है, यह सरासर पाखंड है। हम अपने को या दुनियाँ को धोखा दे सकते हैं, लेकिन उस सर्वशक्तिमान को नहीं।

रामनाम की खूबी यह है कि ध्यान न जमता हो तो भी उसे रटते जायें। श्रद्धापूर्वक ऐसा करने रहने पर विचार भाग जाते हैं, हम शांति अनुभव करने लगते हैं और यदि रामनाम में रस पैदा हो जाए तो सारी बीमारी भाग खड़ी होती है। बाहरी उपचार में भी रामनाम बाधा नहीं डालती।

तुझे बार–बार ईश्वर का नाम ही रटना चाहिए, जिससे मन में कोई विचार न आए।

ईश्वर नाम बार–बार लेने से क्या लाभ है? मेरा उत्तर यह है कि शास्त्रों में एक मंत्र है, जिसमें कहा गया है कि मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा बन जाता है। ईश्वर का नाम रहने से हम वैसे ही बनते हैं।

रामनाम लेता हूँ तब अथवा किसी भी समय मेरी आँखों के सम्मुख कोई आकृति नहीं होती। मैं इस तरह का मूर्तिपूजक नहीं हूँ। उसकी पूजा करने के लिए उसमें आकार का आरोप करने की तनिक भी जरूरत नहीं है। हमें ईश्वर को निरपेक्ष सत्यरूप जानकर उसकी आराधना करनी चाहिए। वह नियम और नियामक दोनों है। यदि यह बात दिल मे घर कर जाए, तो कुछ और सोचने लायक नहीं रहता।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते है, वह तो खेल ही है। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम ही है। राम जब जीभ से उतरकर हृदय में बस जाता है, तभी उसका पूरा चमत्कार दिखलाई देता है।

रामनाम तो है ही। मगर सब वस्तुओं के समान उसके प्रभावकारी होने की भी एक शर्त है। जब रामनाम हृदय के भीतर से निकलता है, तभी उसका पूरा प्रभाव होता है। रामनाम कण्ठस्थ तो करना ही, कंठ से निकलकर वह हृदय में बस जाएगा। इसी कारण तो हम सस्वर प्रार्थना करते है।

जिसे रामनाम का सहारा है, उसका बाल–बाँका कौन कर सकता है? इस सिद्धांत को मैं मानता हूँ, इसलिए मुझे कोई शारीरिक रोग नहीं है। चारो तरफ दावानल धधकता रहता है, फिर भी मैं मस्त रह पाता हूँ। यह रामजी का ही प्रताप है। यदि ऐसा न होता तो मैं कब का टूट गया होता, इसलिए पुकार–पुकार कर कहता हूँ कि जैसा राम नचाता है, वैसा नाचता हूँ। इस दुनिया में हम अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए आए हैं। उसके हुक्म के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। तिस पर मनुष्य का गर्व तो देखो, वह मानता है कि सब कुछ मैं ही कर रहा हूँ। मगर ईश्वर तो इतना उदार है कि हमारे इस गहन अज्ञान पर हँसता ही हैं।

रामनाम बुद्धि से नहीं लेना है, वह तो श्रद्धा से लेना है। उसमें शांति नहीं मिले तो नहीं लेंगे, यदि ऐसा सोचने लगे तो समझो कि श्रद्धा नहीं रही। शांति मिले या न मिले, सुखी हों या दुखी लेकिन रामनाम ही सच है इस विश्वास के साथ उसे लेते रहना और कभी निराश मत होना।

रामनाम फोड़े के लिए नहीं है, वह तो पुल्टिस से ठीक हो सकता है। रामनाम तो समुद्र पर पुल बाँधने, कागज की नाव चलाने, पत्थर को पानी बनाने तथा पानी को पत्थर बनाने के लिए है इसलिए तुम श्रद्धापूर्वक अडिग रहना।

ईश्वर का रूप बोधगम्य नहीं है, तर्क कुछ हदतक इसके अर्थ को समझ सकें, यह अनुभूतिजन्य है। जहाँ तक विश्वास का संबंध है मुझे इसका अनुभव है। अनुभव से हमें यह पता चलता है कि व्यक्ति चाहे जिस परिस्थिति में हो यहाँ तक कि अगर सोया हो, अगर उसने आदत डाल ली, अगर उसके हृदय में रामनाम व्याप्त है, तो रामनाम के उच्चारण का क्रम तब तक जारी रहेगा, जब तक हृदय की धड़कन जारी है। अन्यथा हम कहेंगे कि वह मात्र होठों से रामनाम का उच्चारण कर रहा है और अगर कभी–कभी उसका हृदय में प्रवेश होता भी है, तो निश्चय ही उसका हृदय पर अधिकार होता है, तब यह पूछना व्यर्थ होगा कि उसका उच्चारण किस विधि से किया जाता है। क्योंकि जब रामनाम हृदय पर छाया हो तो उसके उच्चारण का तरीका महत्वपूर्ण नहीं रह जाता है। यह ठीक है कि ऐसे लोग बहुत कम हैं, जिनके हृदय में रामनाम इस प्रकार रच बस गया हो। मुझे इस बारे में जरा भी संदेह नहीं कि रामनाम में जिस शक्ति का उल्लेख किया जाता है, वह उसमें है। केवल इच्छा करने से हर किसी के मन में रामनाम अंकित नहीं हो जाता। इसके लिए अथक प्रयत्न और धैर्य की जरूरत होती है। बिना धैर्य के पारस कैसे मिल सकता है–रामनाम तो उससे भी श्रेष्ठ है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जान बूझकर कोई पवित्र नाम अधिक से अधिक बार जपने में कोई शक्ति होती है। इससे उस नाम के

स्वामी का स्नेह हमारे प्रति बढ़ता है और अंततः हम उसमें विलीन हो जाते हैं। माला रहने से संख्या निश्चित होने के कारण नाम जप छूटने की गुंजाइश नहीं रहती। इस प्रकार पूरा ध्यान नाम पर रहता है और यह चिंता करने की जरूरत नहीं होती कि कितनी बार नाम लिया गया या नाम छूटा तो नहीं। इससे यह भी पता चलता है कि दिन भर आप कितनी बार पवित्र नाम जप कर चुके हैं। इस प्रकार बिना किसी स्वार्थ के ईश्वर का नाम जपना सबसे बढ़िया विधि है। मेरे लिए संभव रहा तो माला फेरने की विधि जारी रखना चाहता हूँ। यह काम जितना गोपनीय रहे, उतना अच्छा है।

रामनाम यदि विश्वास के साथ लिया जाएगा तो तोते की तरह रटे जाने के बावजूद वह तुम्हें इस भौतिक संसार से मुक्ति दिला देगा। फर्क इतना ही है कि तोते की तरह रटते हुए भी तुममें रामनाम के प्रति वह आस्था मौजूद होगी, जो तोते में संभव नहीं है। क्योंकि तोते में आस्था नहीं है इसलिए यदि वह नाम रटते–रटते थक गया तो रटना छोड़ देगा अथवा स्वार्थ वश ऐसा कर रहा है तो उस स्वार्थ की पूर्ति होते ही चुप्पी साध लेगा। शर्त्त केवल यह है कि ईश्वर का नाम दूसरों को प्रभावित करने के लिए अथवा उन्हें धोखे में रखने के लिए न लिया जाए। जैसा मैंने कहा है ईश्वर का नाम यदि सच्चे दिल से और लगातार लिया जाए तो वह उस व्यक्ति के लिए कल्पतरू के समान हो जाता है। मुझे इसमें जरा भी शंका नहीं है।

अपने अंदर विश्वास पैदा कर सको तो ईश्वर का नाम अपना कार्य करते–करते खाते–पीते, सोते, जागते और उठते–बैठते लेते रहो। उसमें तुम्हें अपना पूरा जीवन भी लगाना पड़े तो तुम्हें हार नहीं माननी चाहिए। ऐसा करोगे तो दिन प्रतिदिन अपने अंदर अधिकाधिक शांति महसूस करोगे। तुम्हारी मानसिक शांति में वृद्धि होगी।

विकारों को वश में करना मेरे अनुभव में बहुत ही कठिन है। परंतु वही हमारा कर्त्तव्य है। इस कलिकाल में रामनाम को बड़ी वस्तु समझता हूँ। रामनाम से कइयों को शांति मिली है। रामनाम का अर्थ

ईश्वर का नाम है। द्वादश मंत्र भी यही फल देता है। जिस नाम का अभ्यास है उसका स्मरण करना चाहिए। विषयासक्त संसार में चित्तवृत्ति का निरोध कैसे हो? कई लेखक कहते हैं कि विषय–भोग हमारा कर्त्तव्य है। इस आयु में संयमधर्म का समर्थन करना विचित्र सा मालूम होता है। तथापि मेरा अनुभव मैं कैसे भूलूँ? निर्विकार बनना शक्य है इसमें मुझे कोई शक नहीं। प्रत्येक मुनष्य का इस चेष्टा को करना अपना कर्त्तव्य है। निर्विकार होने का साधन है। साधनों में राजा, रामनाम है। प्रातः काल में उठते ही रामनाम लेना और राम से कहना कि मुझे निर्विकार कर मनुष्य को अवश्य निर्विकार करता है। किसी को आज किसी को कल। शर्त्त यह है कि यह प्रार्थना हार्दिक होनी चाहिए। बात यह है कि प्रतिक्षण हमारे स्मरण में हमारी आँखों के सामने ईश्वर की अमूर्त मूर्ति खड़ी होनी चाहिए। अभ्यास से इस बात का होना सरल है।

जब वासनाएँ आप पर हावी होने का प्रयत्न करें, आप अपने घुटनों के बल बैठ जाएँ और ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना करें। मुझे रामनाम से सदा ही सहायता मिली है।

आखिरकार मुझे तो उसी एक रामवाण का सहारा लेना है, जिसे मैं जीवन की सभी बुराईयों का उपचार मानता हूँ और वह यह है कि हम जो भी लड़ाई लड़ें, हमारी लड़ाई शुद्ध होगी। हमें सत्य और अहिंसा से तनिक भी विचलित नहीं होना चाहिए अगर हम अपनी गाड़ी को इन दो पटरियों पर चलाते रहेंगे तो आप पाएँगे कि हमारी लड़ाई में चाहें हजार गलतियाँ ही क्यों न करें, शुद्धता की सुगंध होगी और उसे लड़ना हमारे लिए सुगम होगा।

रामनाम तानपूरा है। अन्य सारे वाद्य और संगीत हैं। तानपूरा तो छिड़ा ही रहना चाहिए।

मैं मानता हूँ कि अच्छी से अच्छी चीज का भी दुरुपयोग हो सकता है। इसमें चाहें इतने दंभ के लिए गुंजाइश हो पर वह दंभ भी हो तो सदाचार की स्तुति ही है न और मैं यह जानता हूँ कि अगर

दस हजार दंभी मनुष्य, मिलते हैं तो ऐसे करोड़ों सरल श्रद्धालु भी होंगे जिन्हें ईश्वर के इस नाम रटने से शांति मिलती होगी। जब तक शरीर पात नहीं हो जाता, यह प्रक्रिया चलती रहेगी। क्योंकि हम निरंतर पूर्णता के लिए प्रयत्न करते रहते हैं और केवल ईश्वर ही पूर्ण है, मनुष्य कभी पूर्ण नहीं है।

योग साधनाएँ मुझे नहीं आती। मैं जो साधना करता हूँ वह मैंने बचपन में अपनी धाय से सीखी थी कि रामनाम जपो। बचपन की इस सीख ने मेरे अन्तर्मन में एक विराट रूप ले लिया। यह एक ऐसा सूर्य है, जिसने गहनतम अंधकार की मेरी घड़ियों को आलोकित किया है। शर्त्त सिर्फ यही है कि जप केवल ओठों से नहीं बल्कि आपके अंतर से होना चाहिए।

मन को खाली न रहने देने की खातिर उसे निरंतर शुभ चिन्तन में लगाए रखना चाहिए। रामनाम का एकतारा तो चौबीसों घंटे सोते हुए भी श्वाँस की तरह स्वाभाविक रीति से चलते रहना चाहिए। वाचन हो तो सदा शुभ और विचार किया जाए तो अपने कार्य का। कार्य परमार्थिक होना चाहिए।

आप अपने दिल से डर को दूर कर दें। लेकिन वह कौन सा मंत्र है, जो आपके इस डर को भगा सकता है। वह है रामनाम का अमोघ मंत्र। शायद आप कहेंगे कि रामनाम में आपका विश्वास नहीं। आप नहीं जानते कि उसकी मर्जी के बगैर आप एक भी साँस नहीं ले सकते। आप उसे चाहे ईश्वर कहिए, अल्लाह कहिए या गॉड कहिए। संसार में जितने इंसान हैं, उतने ही उसके नाम हैं। उस जैसा दूसरा कोई नहीं। वही एक महान है। उससे बड़ा कोई नहीं। वह कालातीत निराकार और निरंजन है। मेरा राम ऐसा है। एक यही मेरा स्वामी और मालिक है।

जो लोग किसी भी स्थिति में भगवान का नाम छोड़ने को तैयार नहीं होते, वही इस संसार में जीने योग्य हैं। 1

साधना

इस संसार में जो कुछ परमतत्व निश्चित रूप से निहित है, यदि उसकी झाँकी सध सके, उसपर श्रद्धा रहे, तभी जीना साथर्क है, उसका खोज ही परमपुरूषार्थ है।

हमारा काम केवल यह है कि जिसे हम सही और न्यायपूर्ण समझते हैं, उसे बराबर करते रहें और परिणाम भगवान पर छोड दें, जिसकी मर्जी या जानकारी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता है।

मोक्ष पाने का साधन—बहुत अच्छे काम करना, जीवमात्र पर दया करना और सत्यमय होकर जीना। कर्म में आसक्ति करें किन्तु फल में नहीं और सर्वस्व ईश्वर को समर्पण कर दें।

हम जो कुछ ईश्वर से डरकर करते हैं, उसमें वह जगत का सिरजनहार हमेशा करता है तथा हमारी उसपर जितनी श्रद्धा होती है, उतना फल मिलता है।

सिर पर आए दुख को सहन करने में ही मेरी मुक्ति है। मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि खुदा के डर को छोड़कर और कोई डर नहीं रखना चाहिए। अगर मैं ऐसा डर रखूँ, तो वह खुदा के फरमान को तोड़ना होगा। तब फिर दुख का डर क्यों मानूँ? इसलिए मैं खुदा से माँगता हूँ कि वह मुझे मृत्यु आने तक निर्भय बनाए रखे।

यह संसार नश्वर है। यदि मेरा शरीर छूट जाए तो इसमे आत्मीयों के चिन्ता करने की बात किस तरह शोभनीय है? मरणपर्यन्त मेरे हाथ से कोई अयोग्य काम न बन पड़े, बस इतनी इच्छा है। गलती से भी वैसा न हो जाए, इसकी सावधानी रखनी चाहिए। मोक्ष पा सकने की मेरी स्थिति अभी (1908) तो नहीं है, किन्तु मेरा विश्वास है कि आज मेरे विचार जिस पथ पर बढ़ रहे हैं, यदि उस पर आरूढ़ रहकर मैं शरीर छोड़ूँ तो मेरा पुनर्जन्म ऐसा होगा कि उसके बाद मुझे सद्यः मोक्ष मिल जाएगा।

भक्ति करना सिर का सौदा है और इसका मार्ग विषम है।

देह आत्मा से प्यारी न होनी चाहिए। जो मनुष्य आत्मा को जानता है और देह से आत्मा के अलग होने की बात भी जानता है, वह हिंसात्मक उपायों से देह की रक्षा नहीं करेगा। यह काम मुश्किल है, लेकिन जिसके संस्कार बहुत पवित्र हैं, वह इस बात को सहज ही समझता है और उसपर आचरण करता है।

यह मान्यता बहुत भूल भरी है कि आत्मा देह में रहकर ही भला—बुरा कर सकती है। इस मान्यता के कारण संसार में घोर पाप हुए हैं और अब भी हो रहे हैं। आत्माज्ञान होने पर भी मनुष्य से भूलें होती हैं, पाप होता है। परंतु इस सबसे बहुत विचार करने पर छुटकारा हो सकता है। देह हमें दमन करने के लिए ही मिली है।

जेल में मुझे ईश्वर भजन करने का सहज ही अवसर मिल जाता है। मेरा शरीर दूसरों के अधीन होता है लेकिन मेरी आत्मा अधिक मुक्त हो जाती है। संतरी जब मारता—पीटता तब मैं उससे धीरज रखना सीखता। सुख और दुख तो मन की दो विभिन्न स्थितियाँ भर हैं।

क्या तुम अपने धर्म के मूल तत्वों से परिचित हो ? कदाचित तुम कहोगे मुझे तो संपूर्ण गीता कण्ठस्थ है, उसके अर्थ भी जानता हूँ। मैं तो मूल तत्व जानने का अर्थ तदनुसार व्यवहार करने लगता हूँ। देवी संपदा का प्रथम गुण "अभय" है। क्या तुमने कुछ भी अभय पद प्राप्त किया है ? क्या तुम कर्त्तव्य को शरीर के लिए जोखिम होने पर भी निडर होकर करोगे ? जब तक यह स्थिति न हो इसका अभ्यास करना और उस तक पहुँचने का प्रयत्न करना। इस प्रसंग में तुम्हें प्रहलाद, सुधन्वा आदि के चरित्र याद करने की जरूरत है। इन सबको दंत कथाएँ न मान लेना। ऐसा न मान लेना कि आज प्रहलाद, सुधन्वा, हरिश्चन्द्र और श्रवण भारत में नहीं हैं। जब हम इस योग्य बनेंगे, तब उनसे भेंट हो जाएगी। जिन्हानें इन कथाओं को लिखा है, उन्होंने उनके द्वारा अपने अनुभव व्यक्त किए हैं।

भगवान पतंजलि ने दया आदि का जो महत्व बताया है, उसके विचार–मात्र से चित्त प्रसन्न होता है। असल बात यह है कि हमलोगों के मन में भय ने घर कर रखा है। इस कारण सत्य, दया आदि गुण विकसित नहीं हो पाते, फिर हम यह मान लेते हैं कि क्रूर मनुष्यों पर दया कुछ असर नहीं करती। यदि हम ऐसे व्यक्ति के प्रति दया करते हैं, जो हमारे प्रति दया करता है तो यह दया नहीं कही जा सकती, यह तो दया का बदला है।

जन्माष्टमी का व्रत रखा सो ठीक किया। मैंने भी रखने का विचार किया था, किन्तु फिर छोड़ दिया। सोचा कि एकादशी व्रत ही ठीक पालता रहूँ, तो फिलहाल यही बहुत है। श्रीकृष्ण का (प्रसाद) प्राप्त करने का एक ही सुगम मार्ग है और वह यह कि क्रमशः विवेकपूर्ण सत्य आदि सदगुणों को सेवन करना और अपनी आसक्ति अन्य सब विषयों से हटाकर एक के प्रति रखना। "कागा सब तन खाईयों और जलायो मास– दो नैना मत खाईयों पिया मिलन की आस" ये शब्द प्रेमी और प्रेमिका के विषय में कहे गए हैं। परंतु वास्तव में प्रभु रूपी प्रीतम से मिलने के लिए आत्मा रूपी प्रेमिका की उत्कट् याचना बताते हैं। शरीरादि चला जाए उसकी चिन्ता नहीं। वासना रूपी काग ज्ञान रूपी आँखों को न खा जाए तो प्रीतम मिलेगा ही।

हमें सांसारिक बातों के प्रति मंद और धार्मिक बातों के प्रति उत्साही रहना चाहिए। हम अपने सांसारिक लोभ की हद बाँध दें और धार्मिक लोभ को मुक्त रखें।

जितना संबंध बीज और वृक्ष में है, उतना साधन और साध्य में है। शैतान को भजकर मैं ईश्वर–भजन का फल प्राप्त करूँ, यह संभव नहीं हो सकता।

ईश्वर की दृष्टि में पापी और साधु दोनों बराबर हैं। दोनों का समान न्याय होना है और उर्ध्वगमन या अद्यःपतन का समान अवसर दोनों को मिलता है। दोनों ही ईश्वर के बेटे हैं–उसी की रचनाएँ हैं। जो साधु अपने आपको पापी से श्रेष्ठ मानता है, वह पापी से भी तुच्छ

हो जाता है। क्योंकि पापी को तो इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि वह क्या कर रहा है।

हम लोग तो अणु–रेणु हैं, रजकण के समान हैं। हम मिट्टी के ही मानव हैं और अंत में मिट्टी मे मिल जाने वाले हैं। इसे मैं सत्य मानता हूँ। हम मिट्टी से ही पैदा हुए हैं, मिट्टी के ही पुतले हैं फिर अभिमान करें तो किस बात की करें? चींटी जैसे जीव अपनी बॉबी की जैसी सुन्दर कलामयी रचना कर लेता है वैसी हमसे नहीं बनती। हम लोग तो अपूर्ण है। हम तो शरीर से भी संपूर्ण नहीं है। इसलिए हम संपूर्णता को अन्यत्र खोजते रहते हैं। जिस स्थिति में हम हैं, उसमें रहते हुए भी संतोष ही नहीं। ईश्वर ने ही यह दैवी असंतोष हममे भर दिया है। इससे हम यह नहीं, यह नहीं ऐसा कहते रहते हैं और बराबर और आगे बढ़ने के लिए जूझते रहते हैं। हमें तो आगे बढ़ना ही है। इसलिए हमें नम्र बनना है। धूल की तरह या शून्य बनकर रहना है। आज का भौतिक और खगोल शास्त्र कहता है कि अणु में संपूर्ण विश्व समाया हुआ है। उपनिषद के ॠषियों ने तो हजारों वर्ष पहले यह समझा था इसी से कहा था–'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' मे है। हम जब परमाणु के समान बनकर रहें, शून्यवत होकर रहें तभी हम ईश्वरीय अंश प्राप्त कर सकते हैं। कारण यह है कि परमाणु विश्वव्यापी और शाश्वत है। इसलिए हमें आकाश में उड़ना नहीं, किन्तु धूल के समान अकिंचन बनना सीखना है।

सबसे बड़ी बात हम कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, हम ईश्वर को भूल गए हैं और शैतान को पूज रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य ईश्वर को भजना है। सिर्फ माला फेरना, मस्जिद या मंदिर जाना, नमाज पढ़ना या गायत्री जपना–ईश्वर को भजने का चिह्न नहीं है, हाँ ये सब अपनी–अपनी जगह ठीक हैं। लोगों के लिए अपने–अपने धर्म के अनुसार इनमें से एक या दूसरी चीज आवश्यक है। परंतु इनमे से किसी को भी ईश्वरोपासना का लक्षण नहीं माना जा सकता। ईश्वर को तो वह भजता है जो दूसरों के सुख को अपना सुख मानता

है, जो किसी की निंदा नहीं करता, जो धन संचय करने में अपना समय नहीं गँवाता, अनीति के मार्ग पर नहीं चलता है, जो केवल ईश्वर से डरता है। ऐसा मनुष्य कोई काम करते समय इस प्रकार नहीं सोचेगा कि अमुक व्यक्ति या बिरादरी हमारे बारे में क्या सोचेगा? वह तो यह सोचेगा कि मेरे इस कार्य के बारे में परमेश्वर क्या सोचेगा?

यदि तुम मेरी आत्मा को समर्थ मानते हो तो तुम्हारी आत्मा भी वैसी ही है। मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्मा मे कोई भेद नहीं है। किन्तु तुम्हारे भीतर अनात्मा का भी अंश है, यानि भीरूता, संशय, अनिश्चय इत्यादि। इसे तुम दूर कर दो तो हम दोनों समान ही हैं। अंतर इतना ही है कि दीर्घ प्रयत्न के बाद मैंने अपना अधिकांश मल धो डाला है। यदि तुम दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न करोंगे तो तुम भी उतना ही बल्कि उससे ज्यादा धो सकोगे।

मेरे जीते जी हम फीनिक्स में संपूर्ण गरीबी का जीवन बिता सकें यही मेरी अभिलाषा है। याचना करता हूँ कि ईश्वर वह दिन दिखाए पर आसार नजर नहीं आते। हम खरी गरीबी को अपना सकें, ऐसा समय आना मुश्किल है। क्या हमें वह अलभ्य लाभ नसीब नहीं होगा, कि कल के लिए पाई भी नहीं बचे, कि अब कल क्या होगा? मैं इस लाभ को अलभ्य मानता हूँ क्योंकि दुनियाँ के बड़े भाग की यह स्थिति है और बुद्ध आदि की भी यह स्थिति रही है और भविष्य में भी रहेगी। मुझे इसकी प्रतीति होती ही रहती है कि इस स्थिति के बिना आत्माराम को नहीं जाना जा सकता।

जयकृष्णव्यास आदि ने हमें ज्ञान की सीख दी है, परंतु वह निराशुष्क ज्ञान मात्र है, ऐसा जान पड़ता है। सच्चा ज्ञान तो नरसिंह मेहता और सुदामा जी ने सिखाया हैं यही बात मन में जमती है। इन्द्रिय भोगों का उपयोग करके यह कहना कि मैं कुछ नहीं करता, इन्द्रियाँ ही अपना कार्य कर रही हैं, मैं तो द्रष्टामात्र हूँ आदि उक्तियाँ तो बिलकुल मिथ्यावाद जैसी हैं। ऐसे वचन तो वही कह सकता है जिसने संपूर्ण रूप से इन्द्रिय दमन कर लिया है और जिसकी इन्द्रिया

केवल शरीर यात्रा के निमित्त व्यापार करती है। इस हिसाब से हममें से एक भी मनुष्य ऐसी बात कहने का अधिकारी नहीं है और जब तक हमारे जीवन में खरी गरीबी नहीं आती तब तक हममें वह योग्यता भी नहीं आ सकती।

मेरा ख्याल है कि मैं गरीबी के तत्व को दिन ब दिन अधिकाधिक समझता जा रहा हूँ। जान पड़ता है कि वास्तविक लाचारी उपस्थित होने पर और अधिक समझ पाऊँगा। सुदामा और नरसी मेहता की गरीबी से होड़ करने की मेरी प्रेरणा हुई है और आज भी है। सुदामा का ज्ञान खरा ज्ञान है और इसीलिए अनुकरणीय भी है।

ईश्वर परम आत्मा है। आत्मा का भी अस्तित्व है और उसका मोक्ष भी संभव है। पाप और पुण्य होते हैं। मोक्ष इहलोक में भी संभव है। इस सबकी प्रतीति हो जाने पर हमें खोज करते ही जाना चाहिए। यह मानने का रत्ती भर भी कारण नहीं है कि जो कुछ चला आ रहा है वह परम्परागत होने से ठीक है या कोई काम मात्र इसलिए उचित है कि हमारे पूर्वज उसे करते रहे हैं। यह दृष्टिकोण आत्मा की स्वतंत्रता की कल्पना के विरूद्ध है। हमारी पुरानी बातों में बहुत सी अच्छी बाते हैं किन्तु जैसे अग्नि के साथ धुआँ मिला होता है। वैसे ही पुरानी अच्छाई के साथ बुराई भी रहती है। उसका पृथक्करण करके हमें तत्व निकाल लेना चाहिए। ज्ञान का मर्म इसी में निहित है।

जैसे अच्छा लगे, वैसे रहो। किन्तु जैसे भी हो हरि को प्राप्त करें।

हमारी सारी प्रवृति केवल आध्यात्मिक होनी चाहिए। सब कुछ यहाँ तक कि आरोग्य भी—इसके भीतर आ जाता है, इतना निश्चित है कि जो व्यक्ति आत्मा की खोज में लगा हुआ है, उसे बाकी सब अपने आप मिलता जाता है।

भक्ति का सच्चा अर्थ तो आत्मा की खोज है। जिस समय आत्मा अपने को पहचान लेता है। उस समय भक्ति का लय हो जाता है और उसके स्थान में ज्ञान प्रकट होता है। नरसी आदि भक्तों ने आत्मा की ऐसी ही भक्तिपूर्ण खोज की है।

बुरे की बुराई देखने वाला ऊपर बैठा हुआ है। वह उसे सजा देता है। हम न्याय करने वाले कौन होते हैं ?

साँपो को भी वही ईश्वर पैदा करता है। उसके सारे कार्यों को समझ लेने की शक्ति हममें नहीं है। मेरी तो यह भी मान्यता है कि यदि हम प्रत्येक प्राणी के प्रति अपनी वैर भावना को त्याग दें तो वे जीव भी हमारे प्रति वैरभाव न रखें। दया या प्रेम मानव का महान गुण है। इनके बिना वह ईश्वर का भजन कर ही नहीं सकता।

हम तो विश्व के दर्पण हैं। हमारे शरीर जगत में विश्व के समस्त भाव समाए हुए हैं। यदि उन्हें बदल दिया जाए तो संसार की भावना में भी परिवर्त्तन हो जाएगा, यह स्पष्ट है। जो–जो व्यक्ति अपने मनोभाव बदलते जाते हैं उनके लिए संसार भी परिवर्तित होता जाता है। यही ईश्वर की महान माया है। यह एक विचित्रता है इसी में हमारे सुख का मूल स्त्रोत है। अतः दूसरे क्या करते हैं इसकी राह देखने की हमें आवश्यकता नहीं रह जाती ।

हमलोग पाप योनि से उत्पन्न हुए और पाप कर्मों के परिणाम स्वरूप ही देहाधीन हुए हैं। आप यह सारा मल पल भर में कैसे धो डालने की अपेक्षा करते हैं–'सुगम पड़े उस ढंग से रहो जैसे तैसे प्रभु को लहो'।

मन और तन दोनों को एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय न होने दें। दोनों ही को उत्साह पूर्वक कार्य मे लगाए रहें, इसी से सारे उपद्रव शांत हो जाएँगे। बाकी प्रभु पर तो दृढ़ विश्वास बनाए ही रखना चाहिए।

गीता के श्लोको को याद भर कर लेने से मैं खुश नहीं हो सकता। सबसे जरूरी है आत्म–संयम सीखना। मैं शायद किसी अन्य मनुष्य की गुलामी स्वीकार कर लूँ पर अपने मन की गुलामी कभी स्वीकार नहीं कर सकता। मन का गुलाम बन जाने से बड़ा कोई पाप नहीं है।

जयकृष्ण व्यास लिखने पर श्रीकृष्ण समझ लिए जाने पर–

श्रीकृष्ण को तो मैं परमात्मा के रूप में देखता हूँ। वे अर्जुन के सारथि और सुदामा के मित्र थे तथा नरसिंह मेहता के रणछोड़ भी। उनके संबंध में टीका करने का स्वप्न में भी विचार नहीं था। तुम्हारे मन में यह भाव मेरे पत्र के कारण आया, उस हद तक मैं पाप का भागी हूँ। मुझसे इस विषय में एक अक्षर भी कैसे छूट गया यह सोचकर मैं थर्रा जाता हूँ । तुम्हारा पत्र आज आया तभी से घबराया हुआ हूँ इसे मैं अपने जीवन की बड़ी अधम स्थिति मानता हूँ। जब तक मन की ऐसी अति चंचल गति है, तब तक ऐसा ही होता रहेगा।

तमोगुण की प्रधानता होने से मनुष्य अंधा, अज्ञानी और आलसी बना रहता है। रजोगुण उसे अविचारी, साहसी और दुनियाबी बातों में उत्साह पूर्ण बनाता है। सत्वगुण वाला व्यक्ति शांत स्थिर बुद्धि और विचारवान होता है। वह दुनिया के प्रपंच में नहीं पड़ता और अपना मन हमेशा ईश्वर की ओर उन्मुख रखता है । वृतियाँ शांत होने पर ही आत्मदर्शन संभव होता है और जिस वृति से आत्मदर्शन संभव होता है–वह है सात्विक वृति।

तीन सूत्र–

1. हम स्वयं पर दया करें और सारे प्राणियों को अपने ही जैसा समझकर उन पर दया करें, अपने सुख के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा से बचें।

2. शरीर के प्रति आसक्ति न रखें और मृत्यु का तनिक भी भय न माने।

3. यह देह अत्यन्त क्षणमुंगर है, यही विचार करके इसी क्षण मोक्ष के साधन जुटाने में लग जायें।

यों कहे जाने में ये तीनों ही सूत्र बड़े सहज हैं, किन्तु मनन करने पर ये कठिन हैं और मनन के बाद उन्हें जीवन में उतारना तो खड्ग की धार पर चलने के समान है।

शंकराचार्य का एक श्लोक है कि समुद्र के किनारे बैठकर एक घास के तिनके से समुद्र का पानी उलीचना चाहे तो उसके लिए उसे

कितना धैर्य और समय चाहिए ठीक उतना ही समय और धैर्य मन को मारने मे यानि मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। हमें उतावला नहीं होना है।

हृदय पवित्र होना चाहिए। विकारेन्द्रियों से विकार को बचाने का उपाय यही है, पर हृदय है क्या चीज ? इसे पवित्र कब माना जाए ? हृदय स्वयं आत्मा है या आत्मा का स्थान है। इसका पवित्र हो जाना ही आत्मज्ञान की प्राप्ति है। इसके पवित्र हो जाने पर इन्द्रिय के विकार आदि ठहर ही नहीं सकते। लेकिन साधारण रूप में हम ऐसा मानते हैं कि हृदय को पवित्र करने का प्रयत्न करना ही हृदय का पवित्र हो जाना है।

जिस किसी व्यक्ति के प्रति मेरा सच्चा प्रेम होगा, वह मेरे कथन अथवा हेतु के अर्थ का अनर्थ कदापि नहीं करेगा और वह मेरी उपेक्षा तो कर ही नहीं सकेगा। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई मनुष्य हमें अपना शत्रु मानता है तो सर्वप्रथम दोष तो हमारा ही है। पूर्ण रूप से हृदय की पवित्रता तो अंतिम स्थिति चरम स्थिति है। इस बीच ज्यों–ज्यों हमारी अंतर की पवित्रता में वृद्धि होगी, विकारों का शमन होता जाएगा। इन्द्रियों में तो विकार है ही नहीं। मन ही मनुष्य के बंधन अथवा मोक्ष का कारण है। इन्द्रियाँ तो मनोविकार की अभिव्यक्ति के स्थान हैं, उन्हीं के जरिए हम मनोविकारों को पहचान पाते हैं।

जीवन–यापन के साधन जुटाने के लिए बहुत झंझट न करें, अधिक से अधिक सरल जीवन पद्धति अपनाएँ और प्रभु की प्राप्ति की दिशा में निरंतर जागृत रहकर साधना करें।

एकांत सेवन, सत्संगी की खोज, सत्कीर्त्तन, सद्वाचन, शरीर को लगातार परिश्रमरत रखना, अल्पाहार, अल्पनिद्रा और भोग विलास का त्याग–जो व्यक्ति यह सब कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्ताकमलवत सहज ही प्राप्त है। इतना करते रहना चाहिए और दूसरे उपायों की तलाश में रहना चाहिए। जब–जब मनोविकार सिर

उठाए तब–तब उपवास आदि व्रतों का पालन करना चाहिए। इन्द्रियों के नाश करने से मनोविकार नष्ट नहीं हो जाते।

आत्मा के सिवा बाकी सब क्षणभंगुर है। प्रतिक्षण हमें न केवल इसका विचार करते रहना चाहिए, उसके अनुरूप कार्य में सदा रत भी रहना चाहिए। ज्यों–ज्यों विचार करता हूँ त्यों–त्यों सत्य और ब्रह्मचर्य की महिमा अत्यधिक महसूस कर रहा हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन दोनों के द्वारा किसी भी कठिनाई पर विजय पाई जा सकती है।

सत्यमार्ग पर चलने वाले को संकट के समय हमेशा सत्यमार्ग सूझ जाता है। वैराग्य के पद वगैरह, हम जो पढ़ते है, वे अगर धर्म संकट के समय उपयोगी सिद्ध न हो तो यही माना जाएगा कि हमने उन्हें सिर्फ तोते के समान रट लिया। उनपर हमने विचार बिल्कुल नहीं किया।

मेरी श्रद्धा ने मेरी रक्षा की है–स्नेह को विनयशील और धैर्यवान होना चाहिए।

साधारण सद्गुणों के अभ्यास से ही उच्चतर जीवन उपलब्ध होता है और अगर हम उच्चतर जीवन प्राप्त नहीं करते तो हमारा पूजा–पाठ, हजारी करना, धरना सब व्यर्थ है।

सच कहें तो डरने वाला व्यक्ति स्वयं ही डरता है। उसको कोई डराता नहीं। हमे जैसे बने, अपने काम के माध्यम से हरि को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। हम जब तक आत्मा को नहीं पहचानते तब तक हरि को प्राप्त नहीं कर सकते।

मनुष्य से नहीं ईश्वर से डरो फिर वह मनुष्य चाहे राजा हो चाहे पुराहित, चाहे मौलवी। इस तथ्य को समझ लेंकिन हमारे भीतर दिव्य अंश है और हम जो कुछ करते है या सोचते हैं वह उसका साक्षी है।

यदि हम अपने शरीर को सत्य के पालन और परोपकार के निमित्त बनाना चाहते हैं तो हमें पहले ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य आदि गुणों को विकसित करके अपनी आत्मिक उन्नति करनी चाहिए।

ईश्वर से प्रेम करना कोई इच्छा नहीं है यह तो स्वाभाविक कामना है। हमारे अच्छे कर्म उतने ही सहज होने चाहिए जितना सहज हमारी पलकों का उठना गिरना।

यह कहना कि इस संसार में पूर्णता प्राप्त करना संभव नहीं, ईश्वर से इंकार करना है। हमारे लिए सर्वथा पाप मुक्त होना संभव नहीं है–स्पष्ट है कि यह कथन जीवन की एक अवस्था विशेष के लिए ही सही है। परंतु इसका समर्थन पाने के लिए शास्त्रों के पन्ने पलटने की जरूरत नहीं। प्रयत्न द्वारा यम–नियमों के पालन से हम मनुष्यों को हमेशा उन्नत से उन्नतर बनते देखते हैं। उन्नत करने की सामर्थ्य की सीमा नहीं बाँधी जा सकती।

तुम्हें किसी के विरूद्ध उस वक्त जाना उचित है, जब वे स्पष्ट रूप से तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बनें।

संयम के इन बलदायक बंधनों को तोड़ने की शर्त्त पर मुझे जीने की जरा सी इच्छा नहीं। मेरे लिए वे शरीर को कुछ बाँधनेवाले होने पर भी आत्मा को मुक्त करने वाले हैं। उनमें से मुझे एक ऐसी चेतना मिली है, जो अन्यथा मेरे लिए दुर्लभ होती। ब्रह्म और माया को एक साथ हरगिज नहीं भजा जा सकता।

यह संसार कैसा है? इसका क्षण प्रतिक्षण सूक्ष्म दर्शन होता रहता है और ऋषि–मुनियों ने उसका जैसा वर्णन किया है, मैं ठीक वैसा ही देखता हूँ और मैं इतनी सूक्ष्मता से देख सकता हूँ कि मुझे उसमें जरा भी रस नहीं आता। जब तक शरीर है, तब तक प्रवृति तो रहेगी ही। इसीलिए जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक शुद्ध प्रवृतियों में लगे रहें यही मुझे पंसद है।

आखिर इतना परिश्रम किस लिए? जीकर क्या करेंगे? जैसी बात, अन्तरात्मा एक क्षण भी बिना पूछे नहीं रहती। एक गोले पर चलने वाली चींटी जितनी छोटी होती है, इस पृथ्वी के गोले पर हम उससे भी कहीं ज्यादा छोटे हैं और चीटियों की तरह अज्ञान में आगे बढ़ते जाते है, कुचले जाते हैं। ऐसे विचार आने पर भी हमारे कर्त्तव्य

के बारे में एक पल के लिए भी शंका नहीं होती। हम प्रवृति रहित होकर नहीं रह सकते। इसलिए हमारा कर्त्तव्य पारमार्थिक वृति के लिए ही हो सकता है। ऐसी प्रवृति करने वाला मनुष्य परमशांति का अनुभव कर सकता है।

जगत में मनुष्य को बहुत सी अन्याय वस्तुओं के संपर्क में आना पड़ता है, लेकिन हरेक मे पड़ना उसका आवश्यक नहीं है सिर्फ कर्त्तव्य की बाबत में पड़ना उसे मंजूर है। बिना कर्त्तव्य जो कोई आदमी इन बाबतों में पड़े तो वह न्यायमार्गी नहीं है।

यह तो सभी जानते है कि जिस हदतक हम शारीरिक सुख का भोग करेंगे और आत्मा की उपेक्षा करेंगे उस हद तक यह विनाश होगा।

मनुष्य भोग के द्वारा नहीं बल्कि संयम द्वारा ही श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त होता है।

अहिंसा की भावना लाजिमी तौर पर विनम्रता की ओर ले जाती है, अहिंसा का मतलब है उस भगवान पर पूरा भरोसा करना जो सदा से सबका सहारा रहा है। अगर हम उसकी मदद चाहते हैं तो अहंकार छोड़कर और पश्चाताप भरे दिल से उसकी शरण में जाना चाहिए।

आचार की पूजा करते हुए हमें विचारों की शुद्धता की आवश्यकता को न भुला देना चाहिए। जहाँ विचारों में दोष होगा वहाँ आचार अंतिम शिखर तक नहीं पहुँच सकेगा। रावण और इन्द्रजीत की तपस्था में किस बात की खामी थी? इन्द्रजीत के संयम का मुकाबला करने के लिए लक्ष्मण को संयम की आवश्यकता थी। यह बताकर आदि कवि ने आचार का महत्व सिद्ध किया है। परंतु इन्द्रजीत के विचारों में विश्वास में आर्थिक वैभव को प्रधानपद प्राप्त था और लक्ष्मण के विश्वास में वह पद परमार्थ को प्राप्त था। अतएव कवि ने लक्षमण को जयमाल पहनाई। यतो धर्मस्तो जयः का भी यही अर्थ है। यहाँ धर्म का अर्थ उच्च से उच्च विचार अर्थात विश्वास और उसके अनुसार उच्च से उच्च आचार ही हो सकता है।

मुझे लगता है हम पृथ्वी पर इसलिए जन्मे हैं कि हम अपने स्रष्टा की आराधना करें, अपने को पहचाने, दूसरे शब्दों में आत्मानुभूति करें और इसतरह अपने प्रारब्ध को जाने।

सच्चे ज्ञान का मतलब है आधी विजय। जिस सीमा तक हम उस महान सिद्धांत को अपने वास्तविक जीवन में उतारते हैं, उसी सीमा तक वह जीने और प्रेम करने योग्य बनता है। तब हम शरीर के शाश्वत गुलाम बने रहने की अपेक्षा शरीर को ही अपना गुलाम बना कर रखते हैं।

हम अपने जीवन में सत्य को धारण करके जियें और माया; असत्य और पाखंड का त्याग करें। वाणी प्रायः असत्य हो जाती है, वह पाखंड बन जाती है। क्रोध असत्य है, काम, मोह, मद आदि असत्य है। हमें इन तमाम सर्पो के विनाश के यज्ञ का अनुष्ठान करना है।

आत्मतत्व, आत्मज्ञान, जीवमात्र के साथ अर्थात ईश्वर के साथ ऐक्य तन्मयता सिद्ध करने से ही प्राप्त होती है। जीवमात्र के साथ ऐक्य का अर्थ है उनके दुखों को समझकर स्वयं दुखी होना और दुख का निवारण करना।

शुभ प्रवृति से परमशांति अवश्य मिल सकती है।

जब तक आपकी ईश्वर में जीवन्त आस्था न हो, आप पापपूर्ण विचारों से छुटकारा नहीं पा सकते, पापपूर्ण कार्यों से तो और भी नहीं। वैसी आस्था प्राप्त करने का एकमात्र तरीका मैं आपको बता सकता हूँ कि वह यह है कि आप मनुष्य की तुच्छता को और इस प्रकार स्वयं अपनी तुच्छता को समझें और आग्रहपूर्वक विश्वास करें और यह मानकर कि एक कोई हस्ती है, जो पूर्ण है और जो संसाररूपी अद्‌भुत रचना के लिए उत्तरदायी है।

मैं अपनी स्रष्टा को, जो मेरी दृष्टि में सत्यरूप है साक्षात्कार करने के लिए अधीर हूँ और अपने जीवन के आरम्भ में ही मैंने यह शोध कर ली थी कि यदि मुझे सत्य का साक्षात्कार करना है तो अपने जीवन को खतरे में डालकर भी मुझे धर्म का पालन करना चाहिए।

जो लोग लगन के साथ सत्य की, ईश्वर की खोज करना चाहते है, उन्हें कुछ व्रतों का पालन करना ही चाहिए। वे व्रत हैं—सत्य अर्थात सत्य बोलना और सत्य ही सोचना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, गरीबी और अपरिग्रह। अगर आप इन सुन्दर व्रतों का पालन नहीं करते तो उन्हें अन्तरात्मा की आवाज सुन सकने का दावा करना उचित नहीं है।

मनुष्य देह में ईश्वर दर्शन होगा या नहीं, यह प्रश्न गीता भक्त के मन मे पैदा ही नहीं होगा। क्योंकि कि उसे कर्म का ही अधिकार है फल का कभी नहीं और जिस बात का अधिकार नहीं है, उसका विचार क्यों किया जाए ? तथापि मेरी राय है कि देह रहते पूर्ण साक्षात्कार असम्भव है। हम ठेठ उसके पास तक पहुँच जरूर सकते हैं मगर शरीर की सत्ता के कारण द्वार प्रवेश असंभव मालूम होता है। ईश्वर के विरह का दुख तो हमें सदा ही रहना चाहिए। वह न रहेगा तो प्रयत्न बंद हो जाएगा या शिथिल पड़ जाएगा। विरह दुख का परिणाम निराशा नहीं आशा होनी चाहिए। कोशिश थोड़ी भले ही हो परंतु वह बेकार कभी नहीं जाती, यह भगवान की प्रतिज्ञा है। इसलिए हमारा विरह, दुख भी आनन्ददायक हो जाना चाहिए। क्योंकि हमें विश्वास होना चाहिए कि किसी न किसी दिन साक्षात्कार जरूर होगा।

ईश्वर का साक्षात्कार राग—द्वेषादि से सर्वथा मुक्त होने से ही हो सकता है अन्यथा कभी नहीं। यह वस्तु अनुभवगम्य है। परंतु अनिर्वचनीय है। इसमें मुझे कोई संदेह नहीं ।

हिन्दू धर्म में पग—पग पर तप है। पार्वती शंकर को पाना चाहती है तो तप करे। शिव से भूल हुई तो उन्होंने तप किया। विश्वामित्र तो तप की मूर्ति ही थे। राम जब वन को गए तो भरत ने योगारूढ़ होकर घोर तपश्चर्या आरम्भ की और शरीर को सुखा दिया।

ईश्वर दूसरी तरह मनुष्य की कसौटी कर ही नहीं सकता। यदि आत्मा देह से मिन्न है तो हम देह को कष्ट देते रहें फिर भी आत्मा को प्रसन्न रहना चाहिए। शरीर की खुराक अन्न है, आत्मा की ज्ञान और चिंतन। यह बात प्रसंग आने पर हर व्यक्ति को अपने लिए सिद्ध करनी पड़ती है।

परंतु यदि तप आदि के साथ श्रद्धा, भक्ति और नम्रता न हो तो तप एक मिथ्या कष्ट है। वह दंभ भी हो सकता है। ऐसे व्यक्ति से सुखपूर्वक भोजन करने वाला ईश्वर भक्त हजार गुना बेहतर है।

मैं तो दुर्योधनादि को आसुरी और अर्जुनादि को दैवी वृति मानता हूँ। यह शरीर ही धर्म क्षेत्र है। उसमें द्वन्द्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋृषि, कवि उसका तादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अन्तर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध चित्त में घड़ी की तरह टिक–टिक करते रहते हैं। यदि चित्त की शुद्धि रूपी चाबी नहीं दी गई हो तो अन्तर्यामी का यद्यपि वहाँ निवास है लेकिन टिकटिकाना बंद हो ही जाता है।

मेरे लिए केवल हिमालय का ही मार्ग बचा है। हिमालय अर्थात धवलगिरी नहीं। मेरा अभिप्राय अपने हृदय के हिमालय से है। उसकी किसी गुफा में बैठ जाना मेरे लिए बहुत ही आसान है। लेकिन मैं उसे ढूँढ़ने नहीं जाऊँगा बल्कि वही मुझे ढूँढ लेगा। जो भक्त हैं वे ईश्वर के पास नहीं जाते। यदि जायें तो उसका तेज सहन नहीं कर सकते। इसलिए ईश्वर ही भक्तों के पास आता है और वे जिस भाव से उसे भजते हैं, वह उन्हें उसी रूप में दर्शन देता है। मेरा ईश्वर जानता है कि मैं उसी की प्रतीक्षा में बैठा हूँ। मेरे लिए तो उसका इशारा ही काफी होगा।

मेरा निश्चित विश्वास है कि अपने अहं अपनी व्यष्टिमूलक भावना, वासना–अपने व्यक्तित्व जो भी संज्ञा आप दें, को पूर्णतः मिटा देना ही परम आनन्द और शांति की एक अनिवार्य शर्त्त है।

जिज्ञासु को व्याकुलता होनी चाहिए, व्यक्ति को ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब शरीर क्षीण होकर लगता है कि अब गए, तब गए। गजेन्द्र मोक्ष और द्रौपदी आख्यान से भी यही पता चलता है। व्यक्ति को इसी के बाद ज्ञान मिलता है और उसकी बुद्धि संस्कारवान बनती है।

कर्म के बिना प्राणी रह ही नहीं सकता। मीराबाई ने वर माँगा कि हर साँस में तेरा ही स्मरण होता रहे, हम श्वास को जान बूझ कर नहीं छोड़ते। वह अपने आप होता रहता है। जिस तरह स्वस्थ व्यक्ति

साँस लेने की क्रिया अलिप्त होकर करता रहता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ सभी कार्यो में अलिप्त रहता है।

'गीताजी' के शब्द केवल इसलिए नहीं है कि हम उनका भाव और अर्थ समझ लें। वे तो तदनुसार आचरण किए जाने के लिए हैं। हम जिस विचार का पालन नहीं कर सकते, हमें उसकी बात छोड़ देनी चाहिए। यह बुद्धि और शक्ति का अपव्यय है कि हम जिस बात का पालन नहीं कर सकते, उसको झूठ–मूठ पढ़ते चले जाएँ।

मनुष्य जैसे–जैसे आगे बढ़ता जाता है। भगवान के विषय में उसका ज्ञान सूक्ष्म और शुद्ध होता जाता है। मनुष्य की प्रत्येक कृति गुण–दोष मय है। अतः हमें हंस की तरह गुण रूप सार ग्रहण कर दोष रूपी विकारों का त्याग कर देना चाहिए। सभी पुस्तकों को पढ़ने की यही सुनहरी कला है। जो सत्य, अहिंसा आदि के विरूद्ध हो वह शास्त्र–वचन नहीं हो सकता, ऐसा मानकर शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध ग्रंथ में भी भले वह छपा हुआ है, तब भी हम उसका त्याग करें।

धर्म तो यह कहता है कि जब तक मनुष्य अपने मैल को जमा करता है, तब तक वह अपवित्र है। ईश्वर के पास खड़ा होने लायक नहीं है। इसीलिए हमारा पहला काम तो यह है कि जो मैल है उसे प्रकट करके धो लें।

धर्म की शिक्षा धर्मपालन द्वारा ही दी जा सकती है, कोरे पाण्डित्य द्वारा कदापि नहीं। सत्संग मनुष्य को क्या नहीं बना सकता? समझदार मनुष्य दुनियाँ भर की फिक्र करने के बदले स्वयं धर्म पालन करना शुरू करे। फिर तो 'यथोपिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य पड़ेगा। अगर सब अपनी–अपनी चिन्ता करने लगें तो किसी को किसी की चिन्ता करने की जरूरत ही न रह जाए।

पिछले दुष्कर्मों का प्रायश्चित शक्य है और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित का अर्थ न मिन्नतें मानना है और न रोना पीटना ही है। हाँ उसमें उपवासादि की गुंजाइश अवश्य है। पश्चाताप ही सच्चा प्रायश्चित है।

दूसरे शब्दों में दुबारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित है। दुष्कर्मों के फलों का कुछ न कुछ नाश तो अवश्य होता है। जब तक प्रायश्चित नहीं किया जाता तब तक फल चक्रवृद्धि ब्याज की भाँति बढ़ता ही रहता है। प्रायश्चित कर लेने से सूद की वृद्धि बंद हो जाती है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है उसमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।

ज्ञान, उपासना और कर्म ईश्वर प्राप्ति के तीन अलग मार्ग नहीं है बल्कि ये तीनों मिलकर एक मार्ग हैं। पानी हाइड्रोजन और आक्सीजन का बना है लेकिन पानी न तो हाइड्रोजन और न आक्सीजन है वैसे ही न तो ज्ञान अकेला प्राप्ति मार्ग है और न अकेली भक्ति।

जो मनुष्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के लिए या और किसी कारण असत्य का सहारा लेता है, राग–द्वेष से भरा है, उसको भगवद्प्राप्ति हो ही नहीं सकती और दूसरा सत्य का पालन करने वाला सारी प्रवृत्तियों को त्यागकर भगवत् दर्शन कर सकना तो आकाश पुष्प जैसी बात हो गई। जो प्रवृति से अलग रहता है, वह किस मार्ग पर चलता है, यह कैसे कहा जाय। गीता माता ने कई श्लोकों में स्पष्ट किया है कि मनुष्य वगैर प्रवृति का एक क्षण भी नहीं रह सकता। भक्त और अभक्त में भेद यह है कि एक पारमार्थिक दृष्टि से प्रवृति में रहता है और प्रवृति में रहते हुए सत्य को कभी नहीं छोड़ता और राग–द्वेषादि को क्षीण करता है। दूसरा अपने भोगों के लिए ही प्रवृति में मस्त रहता है। प्रपंच कोई निंद वस्तु नहीं है। प्रपंच के ही मारफत भगवद्–दर्शन शक्य है। मोह जनक प्रपंच निंद्य और सर्वथा त्याज्य है।

अनासक्ति का अर्थ अवश्य यह है कि अपने प्रति और अपने संबंधियों के प्रति अनासक्ति लेकिन सत्य या ईश्वर के प्रति इतनी आसक्ति कि हम तन्मय हो जाएँ, तदरूप हो जाएँ।

परम अथवा सत्य की प्राप्ति बराबर उसका आचरण करके ही कर सकते हैं। यह कथन एक वैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य जैसा

सोचता है वैसा ही बन जाता है। यहाँ विचार से मतलब मानसिक तरंग नहीं है, इसका मतलब है–विचार, वाणी और कर्म में पूर्ण सामंजस्य और जब यह सामंजस्य पूरी तरह स्थापित हो जाए तो आप सत्य को देख सकते हैं।

ईश्वर की कृपा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। परंतु प्रयत्न रूपी निमित्त के बिना जो ईश्वर की कृपा का साधन है वह नहीं हिलता, प्राणिमात्र की शुद्धतम सेवा ही ईश्वर का साक्षात्कार है।

ईश्वर हम सबका स्रष्टा और और शास्ता, ब्रह्माण्ड के छोटे से छोटे कण–कण में व्याप्त है और चूँकि यह सब कुछ ईश्वर का है और सबमें ईश्वर का निवास है, इसलिए हमें सब कुछ त्याग कर देना चाहिए, सब कुछ उसी के चरणों पर अर्पित कर देना चाहिए और फिर प्रतिदिन वहीं खाना चाहिए, उसी का उपभोग या उपयोग करना चाहिए, जो कुछ वह हमें दे। किसी की संपत्ति को लोभ की दृष्टि से मत देखो।

शारीरिक वासनाओं के दमन में कुछ गुण अवश्य हैं। शरीर का बलिदान किए बिना ईश्वर से साक्षात्कार असंभव है। शरीर को भगवान का मंदिर मानते हुए उसकी आवश्यकताओं को पूरी करना एक बात है और उसे हाड़मांस की काया मानते हुए उसकी वासनाओं का दमन करना दूसरी बात है।

मैं कहा करता था 'ईश्वर सत्य है' उससे मुझे पूरा संतोष नहीं हुआ। तब मैंने कहा "सत्य और ईश्वर अलग चीजें नहीं हैं। ईश्वर का विधान ईश्वर ही है। ईश्वर और उसका विधान दो अलग–अलग चीजें नहीं है। ईश्वर का विधान ईश्वर ही है। उसको समझने के लिए मनुष्य को गहन प्रार्थना करनी पड़ती है और ईश्वर में लीन होना पड़ता है। हर व्यक्ति अपनी–अपनी समझ के मुताबिक उसकी व्याख्या करेगा। जहाँ तक मनुष्य और ईश्वर के संबंध का ताल्लुक है, मनुष्य दो हाथ और दो पैर होने की वजह से मनुष्य नहीं बन सकता। वह मनुष्य तभी बनता है जब उसका हृदय ईश्वर का आवास

बनता है। जब तक हमें यह प्रतीति नहीं होती है कि शरीर ईश्वर का आवास है तब तक हम मनुष्य नहीं है।

जिंदगी मजा करने के लिए नहीं बल्कि कर्त्तार को पहचानने के लिए और जगत की सेवा के लिए है।

मनुष्य को अपने स्रष्टा का ध्यान चौबीस घंटे रखना चाहिए।

मनुष्य अपूर्ण होने पर भी पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। इसलिए वह विचार की तरंगों में पड़ता है और जिस प्रकार बच्चा चलने का प्रयत्न करता है, गिरता है और फिर खड़ा होता है। मनुष्य भी उसी प्रकार करता है। यदि हम उसे बुद्धि की दृष्टि से चन्द महीनों का बच्चा कहें तो ब्रह्मा के काल के पैमाने से देखते हुए इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। बल्कि यह शुद्ध सत्य ही होगा। यह सब मनुष्य तो अपनी भाषा में ही व्यक्त कर सकता है। ईश्वर नाम की शक्ति का वर्णन भाषा में तो किया ही नहीं जा सकता। ईश्वर को पहचानना है तो स्वार्थ और भय को छोड़ना ही होगा।

शारीरिक कष्ट को आध्यात्मिक आनन्द में बदला जा सकता है और बदलना भी चाहिए। यह एक कठिन प्रक्रिया है, लेकिन अगर आदमी सच्चा धन पाना चाहे तो उसे इससे गुजरना ही पड़ता है। इस अनिच्छित निष्क्रियता का उपयोग अपने विचारों को समृद्ध बनाने मे करना चाहिए।

जो मनुष्य सत्य यानि ईश्वर की साधना करना चाहता है उसके लक्षण हैं कि उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भय से पूरी तरह मुक्त होना चाहिए। उसे स्वयं को शून्य की स्थिति में ले जाना चाहिए या जिह्वा सहित अपनी सभी इन्द्रियों पर उसका पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए। जिह्वा वाणी और स्वाद दोनो की ही इन्द्रिय है। जिहवा से ही हम अतिशयोक्तिपूर्ण मिथ्या और दूसरों को चोट पहुँचनाने वाली वाणी का प्रयोग करते हैं। स्वाद की लालसा हमें जिह्वा का दास बना देती है और तब हम पशुओं की भाँति केवल खाने के लिए जीवित रहते हैं। लेकिन उचित संयम से हम अपने आपको ऐसा बना सकते

हैं कि देवदूतों से थोड़ा ही नीचे रह जाएँ। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रिय को पूरी तरह वश में कर लेता है, वह उनमें प्रथम और अग्रणी होता है। उसमें सभी गुण निवास करते है, जिनके माध्यम से ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। आत्मसंयम या आत्मशुद्धि में इतनी शक्ति है।

पूर्ण रूप से निर्विकार हुए बिना पूर्ण आनन्द असंभव है। मन को स्थिर रखने का उपाय हृदय से रामनाम का जाप है। अन्तर्निहित रहकर निरंतर सेवा करते रहना यह सच्ची निवृति है। शरीर को कष्ट हो तो भी आत्मा को प्रसन्न रखने का उपाय है कि आत्मा को शरीर से भिन्न मान लेना और ऐसा ही अनुभव करना। जिससे दीनता उत्पन्न न हो, वह भक्ति नहीं है, जिससे अहंकार उत्पन्न हो, वह ज्ञान नहीं है। जिसे अर्न्तज्ञान प्राप्त होता है, वह सहज ही ध्यानस्थ हो जाता है। पूर्व संस्कारों को मिटाना असंभव है और यही जीवन में पुरूषार्थ का सच्चा उद्देश्य है। शून्यवत होने का अर्थ है–अहंभाव का अन्त।

मनुष्य मात्र का बस एक ही ध्येय होता है या होना चाहिए और वह है अपने कर्त्ता की पहचान अथवा आत्मदर्शन। देशझसेवा कोई अलग ध्येय नहीं है, पर उसके बिना आत्मदर्शन असम्भव है।

शुरू–शुरू मे ंऐसा हो सकता है कि ईश्वर उपासना करते समय मन कुछ दिनों यहाँ तक कि कुछ वर्षो के लिए भटक जाए । बैचेनी अथवा निद्रा महसूस करे, हो सकता है उन्हें कुछ दुख भी उठाना पड़े, परंतु फिर भी वे ईश्वर की उपासना करते चले तो अंत में वे उसका फल अवश्य पाएँगे। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि जो चीज जितनी ही दुर्लभ है उतनी ही कठिनाई के बाद हम उसे प्राप्त कर पाते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए क्या किया जाए जो अच्छा तो होना चाहता है, परंतु बताई गई दवाईयाँ धैर्यपूर्वक कुछ समय तक नहीं खाता और फलतः निराश होता है।

एकादशी के दिन धर्म विचार में व्यतीत होना चाहिए। जो मनुष्य काम रहित हो जाता है, ममत्व रहित हो जाता है, अहंकार रहित हो जाता है, उसे शांति मिल जाती है।

अच्छी खबर हो या बुरी—उसे अपने ऊपर से यों गुजर जाने दो जैसे बत्तख की पीठ पर से पानी फिसल जाता है। जब हम कोई खबर सुनें तो हमारा कर्त्तव्य मात्र इतना पता चलाना है कि क्या कुछ करने की जरूरत है और यदि हो तो हम अपने आपको प्रकृति के हाथ का एक साधन मानकर उसे कर दें।

अहिंसा केवल बुद्धि का विषय नहीं है यह श्रद्धा और भक्ति का विषय है। यदि आपका विश्वास अपनी आत्मा पर नहीं है, ईश्वर और प्रार्थना पर नहीं है, तो अहिंसा आपके काम आने वाली चीज नहीं है। यदि अहिंसा परम धर्म है, जैसा कि हम उसे मानते हैं, तब तो उसे हर मौके पर हर जगह काम देना ही है। इतनी शक्ति उसमें भरी हुई है। हम उसकी उस शक्ति को न पहचान सकें, तो वह दोष हमारा है, हम इसे ज्ञान पूर्वक अपनाएँ। साधना के साथ आपका भी ज्ञान बढ़ता जाएगा। लेकिन आप सर्वज्ञ नहीं होंगे। सर्वज्ञ तो अकेला ईश्वर ही है। ईश्वर ऐसा पागल नहीं है जो सबको सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बनने दें। हमारी अपूर्णता के कारण ही साधना के लिए अवकाश है। ईश्वर ने तो हमसे यह कहा है कि जब—जब हम अपनी दुर्बलता को महसूस करते हैं तो ईश्वर हमारा हो जाता है। 'निर्बल के बल राम' किसी संगीताचार्य का पद्य नहीं है। किसी अनुभवी का वस्तु निर्देशक वाक्य है।

हम पर संगीत का बहुत असर होता है। वेद मंत्रों की रचना संगीत के आधार पर हुई जान पड़ती है। मधुर संगीत आत्मा के ताप को शांत कर सकता है।

आत्मा के विकास के लिए संगीत के महत्व की प्रतीति मुझे दिन रात होती जा रही हैं।

मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में कला का, जिसमें संगीत भी शामिल है, एक समुचित स्थान है। किन्तु एक समय ऐसा भी आता है जब वह कला से ऊपर उठ जाता है। उसे इन्द्रियों के माध्यम से ही अनुभूत और ग्रहीत किया जा सकता है। इस प्रकार कला, जैसा कि मैंने उसे समझा है अपने आपको मनुष्य का लक्ष्य नहीं बन सकती।

अपनी इन्द्रियों (भावनाओं) द्वारा तो हम उसे कभी नहीं पा सकते क्योंकि वह उनसे परे है। अगर हम चाहें तो उसका अनुभव कर सकते हैं। पर इसके लिए हमें इन्द्रियों से ऊपर उठना होगा। दैवी संगीत हमारे अंदर गूँजते रहता है। इन्द्रियों से हम जो कुछ समझ या सुन सकते हैं, उससे वह भिन्न और निश्चित रूप से ऊँचे दर्जे का है। परंतु इन्द्रियों के कोलाहल और हलचल में वह नाजुक (दिव्य) संगीत विलीन हो जाती है। कभी—कभी दिव्य संगीत की गूँज सुनाई पड़ जाती है, किन्तु यह स्वयं प्रयत्न करने पर ही कोई सुन सकता है। यह ऐसा संगीत नहीं कि कोई और सुनवा सके।

संगीत का एक श्लोक है कि संगीत विहीन मनुष्य अगर योगी नहीं है तो पशु के समान होता है। सच पूछे तो योगी संगीत के बिना अपना काम चला ही नहीं सकता। उसका संगीत उसके हृदय की वीणा से निकलता है, इसलिए हम उसे सुन नहीं पाते। योगी हृदय के द्वारा भगवान का भजन करता है। हम कंठ के द्वारा भजें और दूसरों का इसतरह का भजन कान से सुने। यह करते करते हम हृदय में निरंतर चलता संगीत सुन सकते है।

मुझे तो संगीत के बिना सारी शिक्षा ही अधूरी लगती है। संगीत व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को मधुर बनाती है। संगीत क्रोध को शांत करता है और उसका सदुपयोग ईश्वर का दर्शन कराने में बहुत सहायक होता है। संगीत का अर्थ तान पलटों के साथ राग या नाटक के गीत गाना नहीं है। यह संगीत का सामान्य अर्थ है। संगीत का गहरा अर्थ यह है कि हमारा सारा जीवन संगीतमय सुरीला होना चाहिए। सत्यादि गुणों की आराधना किए बिना जीवन ऐसा बन ही नहीं सकता। जीवन को संगीतमय बनाने का अर्थ है—उसे ईश्वर के साथ एकतार करना। जिसने राग—द्वेष का दमन नहीं किया है, जिसने सेवा के रस को नहीं चखा है, वह इस दिव्य संगीत को पहचानता ही नहीं है। जिस संगीत की शिक्षा में इस गूढ़ अर्थ का समावेश नहीं है, मेरे निकट उस संगीत का मूल्य बहुत ही कम है या है ही नहीं।

संगीत से मुझे शांति मिली है। मुझे ऐसे मौके याद हैं, जब मैं किसी कारण परेशान था और जब संगीत सुनने से मन को शांति मिली थी। यह भी अनुभव हुआ कि संगीत से क्रोध मिट जाता है। ऐसे तो कई उदाहरण याद हैं कि गद्य में लिखी हुई चीजों का असर नहीं पड़ा और उन्हीं के बारे में भजन सुनने पर मन पर उसका असर हो गया। मैंने यह भी देखा है कि भजन के बेसुरे गाए जाने पर उसके शब्दार्थ ने मुझे नहीं छुआ। और वही भजन मधुर सुर में गाया गया तो उसमें भरे हुए अर्थ का असर मन पर बहुत गहरा हुआ। 'गीता' जब मीठी आवाज में एक सुर से गाई जाती है तब मैं उसे सुनते–सुनते थकता ही नहीं और गाए जाने वाले श्लोकों का अर्थ दिल में ज्यादा से ज्यादा गहरा पैठता है। मीठे स्वर में जो रामायण बचपन में सुनी थी असर अबतक है।

प्रत्येक मानव–हृदय में तार है, यदि हम केवल यह जानते हों कि सही तार कैसे छूना है तो हम संगीत पैदा कर सकते हैं। 1

समर्पण

ईश्वर के अटल भक्त प्रह्लाद ने धकधक करते हुए लाल सुर्ख खंभे को पकड़ लिया, फिर भी उसे कोई नुकसान नहीं हुआ, क्योंकि उसे ईश्वर की सहायता पर पूरा विश्वास था। इसी तरह जो व्यक्ति ईश्वर को बीच में रखकर साहस का काम करता है, उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सच्ची नीयत वाले की बात बनाए रखने वाला और इज्जत की रक्षा करनेवाला परमेश्वर सदा और सर्वत्र हाजिर है।

मैं अपनी कमाई का मालिक हूँ ही नहीं। क्योंकि मैंने सब कुछ लोकार्पित कर दिया है। मैं कमाता हूँ ऐसा मुझे मोह नहीं है, बल्कि सदुपयोग करने के लिए ईश्वर देता है, ऐसा ही मानता हूँ।

जो मनुष्य जीत को इस तरह देखता है, वह कभी फूल न जायेगा। वह कभी भूल, नहीं कर सकता और वह प्राप्य फल की परवाह नहीं करता, क्योंकि उसका बोझ वह व्यक्ति अपने ऊपर नहीं उठाता। बोझ उठाने वाला तो केवल इस जगत का सिरजनहार ही है। बाकी मैं कर्त्ता हूँ, मैं कर्त्ता हूँ सोचना भी अज्ञान है। यह तो "शकट का भार श्वान खींचे" मानने जैसे हुई।

(दक्षिण अफ्रिका में)–मार पड़ते ही मेरे मुँह से हे राम! शब्द निकला और बेहोशी दूर हुई तो हँसता हुआ उठा। मेरे मन मे जरा सा तिरस्कार अथवा रोष मारने वाले पर नहीं था। अब मैं समझ गया हूँ कि लोग मौत से बेकार डरते हैं। मैंने डरना तो पहले छोड़ दिया था परंतु अब तो निडर बन गया हूँ।

मैं अपने संघर्ष में आपसे संसार त्यागने और प्रभु से उसी प्रकार चिपके रहने के लिए कहता हूँ जिस प्रकार कोई शिशु अपनी माता के वक्ष से चिपका रहता है। ईश्वर पर भरोसा रखकर जो संघर्ष चलाया जाता है उसमें विजय अवश्य मिलती है।

ईश्वर के सिवा मैं किसी और से डरूँ यह नहीं हो सकता। सत्य ही ईश्वर है। मनुष्यों का स्वाभाव सदा उनकी मर्यादा में सीमित रहता है। छिछले होकर अधिक की याचना करना और वह मिल जाए तो उसे ले लेना योग्य नहीं है।

यदि हमने अपना सर्वस्व कृष्णापर्ण कर दिया हो तो जिसका यह सब कुछ है, वही उसको सँभालेगा। यदि न सँभाले तो इसमें तुम्हारी या मेरी क्या हानि है ? देखना तो यह चाहिए कि हमने सब कृष्णापर्ण कर दिया है या उसका कुछ अंश अपने लिए बचा रखा है।

यदि विभीषण प्रभु राम चन्द्र के पास निःस्वार्थ बुद्धि से गए तो ऐसा करना बिल्कुल ठीक था। अपने सगे भाई का दोष भी प्रभु से कौन छिपाना चाहेगा ? और भाई के दोष दूर करने के लिए प्रभु की सहायता माँगना भी ठीक ही है।

मेरी समझ में मैनें किसी अन्य बात का नहीं सिर्फ परमात्मा की इच्छा का अनुसरण किया था। वही मुझे घिरते हुए अंधकार से रास्ता दिखाकर पार ले जाएगा।

कितनी भी बाहरी रूकावटें क्यों न हों हमारे काम की गति धीमी नहीं पड़ सकती बशर्ते कि हमें ईश्वर में ऐसा विश्वास हो कि हम कह सकें "अशरण–शरण, शरण हम तेरी" सभी धर्मों में इस आशय की प्रार्थनाएँ मिलती है। यदि हम केवल परमात्मा को ही अपना सहारा माने और अपने को उसकी गोद में छोड़ दें तो हम तमाम अग्नि परीक्षा से बेदाग बाहर निकाल आयेंगे–हमें जरा भी आँच न आने पाएगी। यदि उसकी इच्छा और आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता तो इस बात पर विश्वास करने मे कौन सी दिक्कत है। वह इस कार्य के द्वारा हमारी परीक्षा ले रहा है। मैं तो बस अकेले उसी को अपने दुख दर्द की कहानी सुनाऊँगा और क्रोध भी करूँगा तो उसी पर जो इतनी बेरहमी के साथ हमारी परीक्षा ले रहा है और यदि हम केवल उसी पर निर्भर रहें तो वह हमें अवश्य सांत्वना देगा और हमें क्षमा कर देगा। जालिम के सामने अडिग खड़े रहने की रीति यह नहीं है कि हम अपने उस दुख और क्लेश के समय ईश्वर के दरबार में नम्र होकर सच्चे दिल से उसे पुकारें।

मेरा ख्याल है कि मैं अहंकार की भावना से मुक्त हूँ। मैं समझता हूँ कि मैं अपनी दुर्बलताओं को खूब जानता हूँ परंतु मेरे हृदय में ईश्वर के उसकी शक्ति के और उसके प्रेम के प्रति जो श्रद्धा है वह अटल है, अविचल है। मैं तो उसके हाथ में कुम्हार के हाथ में मिट्टी की तरह हूँ। इसीलिए अगर श्री मद्भगवत गीता की भाषा में कहें तो ये सभी स्तुति, स्त्रोत उसी के चरणों में समर्पित करता हूँ। हाँ मैं यह मानता हूँ कि आर्शीवचनों से शक्ति मिलती है। ठीक उसी तरह जो मुझे शाप देते है, इन शापों को भी हमारे यहाँ उसी के चरणों में अर्पित कर देने की आज्ञा दी गई है ।

मुझे अपना कोई स्वार्थ साधन नहीं करना है और न मेरी ऐसी कोई सांसारिक महत्वाकांक्षा है, जिसकी पूर्ति करनी हो। ईश्वर का

साक्षात्कार ही मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है और मैं दुनिया को जितना ही अधिक देखता हूँ तथा उसके बारे में जितने अधिक अनुभव होते जाते हैं, उतना ही मैं महसूस करता हूँ कि इस प्रेरणा को ग्रहण करने का तरीका जुदा–जुदा हुआ करता है।

दुनिया में घटती, दुर्घटनाओं को देखकर–यही लगता है कि हम इस संसार में चीटी से भी तुच्छ हैं। चीटी हमें अपने निगाह में तुच्छ लगती है और ईश्वर की दृष्टि में हम स्वयं कैसे है ? फिर भी हम कीटाणु जैसे तुच्छ जीव किसी वस्तु को देखकर कैसे प्रसन्न हों अथवा रोये।

भविष्य पर हमारा कोई वश नहीं है। भविष्य के बारे में हम कुछ नहीं जानते। जब हम छोटी से छोटी बात में भी निमित्त मात्र होते हैं तब दुख किस लिए मानें? जो घटित हो उसे देखते रहें। जो अपना कर्त्तव्य जान पड़े उसे पूरा करें और प्रसन्न रहें। इसमें समस्त धर्म आ जाता है। आप जिसे दुख मानती हैं उसी को सुख क्यों नहीं समझतीं ? सहिष्णुता आपमें कष्ट सहन से आई है। संतोष में सुख है। सुख ढूँढ़ने वाले के पल्ले दुख ही पड़ता है और दुख सहन करते–करते सुख मिलता है। हम मजदूर जन्में है, यदि चाकरी बजाते सेवा कार्य करते–हुए हमारी आँखें मुँदें तो समझना चाहिए कि हमारा जीवन सफल हो गया।

मेरे जीवन में सांसारिक दुख और शोक के न जाने कितने प्रसंग आए है और अगर मुझ पर कोई खरोंच नहीं छोड़ पाए तो इसका कारण भगवदगीता की शिक्षा ही है।

शांति तो अपने भीतर से ही प्राप्त होगी और उसका रास्ता है अपने मन को प्रभु में लगाना और उसमें अटूट विश्वास रखना। जो व्यक्ति यह अनुभव करता है कि ईश्वर उसके भीतर विद्यमान है और बराबर उसके साथ है, उसे एकाकीपन का अनुभव हो ही, नहीं सकता। मुझे जो कुछ भी शांति मिली है, इसी विश्वास के बल पर मिली है कि हर चीज के पीछे ईश्वर का हाथ है। फिर विपत्तियाँ, विपत्तियाँ नहीं रह जातीं। वे हमारी आस्था और दृढ़ता की परीक्षा करती है।

संयत जीवन बिताने में ईश्वर प्राप्ति की उत्कट जीवन्त अभिलाषा निहित है। जब इस परम तत्व का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है तब ईश्वर के ऊपर यह भरोसा बराबर बढ़ता ही जाता है कि वे स्वयं ही अपने इस यंत्र–मनुष्य के शरीर को विशुद्ध और चालू रखेंगे।

मुख्य वस्तु ईश्वर पर श्रद्धा है और जिसके मन में श्रद्धा है, वह अपनी दुर्बल स्थिति में ईश्वर की सहायता माँगता है और उसे सहायता मिलती भी है। प्रार्थना किससे करें? ईश्वर क्या सहायता करने के लिए निठल्ला बैठा हुआ है? अगर निठल्ला बैठा हो तो वह अन्तर्यामी होने के कारण प्रार्थना करने से पहले ही रोग समझकर उसका निवारण करता? इस तरह की दलील, प्रपंच में न पड़ते हुए ईश्वर की गति गहन समझकर और दूसरे जो उसकी शरण लेकर तर गए हैं उनके दृष्टांत को सामने रखते हुए श्रद्धापूर्वक सच्चे हृदय से याचना करनी चाहिए।

हमलोग तो अणु–रेणु हैं रजकण, के समान हैं। हम मिट्टी के मानव हैं और अंत मे मिट्टी मे मिल जाने वाले हैं, इसे मैं सत्य मानता हूँ। हम मिट्टी से ही पैदा हुए हैं मिटटी के ही पुतले हैं फिर अभिमान करें तो किस बात का करें? चींटी जैसे जीव अपनी बाँबी की जैसी सुन्दर कलामयी रचना कर लेती हैं, वैसी हमसे नहीं बनती। हमलोग तो अपूर्ण हैं, हम तो शरीर से ही सपूंर्ण नहीं है। इसलिए हम संपूर्णता को अन्यत्र खोजते रहते है। जिस स्थिति में हम हैं उसमें रहते हुए हमें संतोष भी नहीं है। ईश्वर ने ही यह दैवी असंतोष हममें भर दिया है। इससे हम यह नहीं, यह नहीं ऐसा कहते रहते है और बराबर आगे बढ़ने के लिए जूझते रहते हैं। हमें तो आगे बढ़ना ही है, इसलिए हमें नम्र बनना है। धूल की तरह या शून्य के समान बनकर रहना है। आज का भौतिक और खगोल शास्त्र कहता है कि अणु में संपूर्ण विश्व समाया हुआ है। उपनिषद के ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले यह समझा था इसी से कहा था–'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो पिण्ड में है वहीं ब्रह्माण्ड में है। हम जब परमाणु के समान बनकर रहें, शून्यवत होकर रहें, तभी हम ईश्वरीय अंश प्राप्त कर सकते हैं। कारण यह है

कि परमाणु विश्वव्यापी और शाश्वस्त है। इसलिए हमें आकाश में उड़ना नहीं, किन्तु धूल के समान अकिंचन बनना सीखना है।

बिना खाए तो मनुष्य काफी दिनों जीवित रह सकता है, परंतु ईश्वराराधना के बिना एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। इस तथ्य को चाहे वह न माने किन्तु इसे न मानना वैसा ही होगा जैसा किसी बेसमझ व्यक्ति को अपने शरीर में फेफड़ों के अस्तित्व अथवा रक्त के प्रवाह को न मानना।

सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों ने अपने को शठ, कामी आदि कहा है। वह औपचारिक विनय की भाषा नहीं है, उनके अन्तर के उद्गार हैं। सच बात यह है कि हमारे भीतर दोनों ही भावनाएँ भरी हैं। जागृतवस्था में हम ब्रह्म–रूप लगते हैं। मूर्च्छित स्थिति में उस दयालु के सामने हम दीन जैसे हैं। जो अपने को दीन न समझता हो, पूर्ण ब्रह्म समझता हो, वह चाहे तो ईश्वर की करूणा याचना करने वाले भजन न गाए। ऐसे मनुष्यों का करोड़ों में एक का अनुपात भी नहीं होता। अपनी अल्पता का दर्शन करना महान बनने का आरम्भ है। सागर से विच्छिन्न बिन्दु अपने को समुद्र कहेगा तो सूख जाएगा और यदि वह अपने बिन्दु होने को स्वीकार करे तो वह समुद्र की ओर बढ़ेगा और उसमें लीन होकर समुद्र बन जाएगा।

मैं किसी अटकल बाजी में नहीं पड़ता, ईश्वर मुझे जहाँ भी ले जाएगा वहाँ मैं इसी विश्वास के साथ जाऊँगा कि उसके निर्देशित मार्ग पर चलने से सब कुछ ठीक ही होगा।

जो ईश्वर और उसके मंगलकारी स्वरूप पर जीवंत आस्था रखता है उसको बड़ी से बड़ी असफलता या विपत्ति से विचलित नहीं होना चाहिए। हम नहीं जानते कि हर असफलता सचमुच ही दुख जनक है और न यही मानते हैं कि हर विपत्ति सचमुच ही कोई दण्ड है। क्या हम बहुधा यह नहीं देखते कि समृद्धि और सफलता लोगों के विनाश का कारण बन जाती है और असफलताएँ तथा विपत्तियाँ उनको शुद्ध और संयत बना देती है?

हमें अपनी पूरी कमजोरियों के साथ और खाली हाथों तथा पूर्ण आत्म–समर्पण के भाव से ईश्वर के सामने खड़ा होना चाहिए और तब वह आपको सारे संसार के खिलाफ खड़ा होने योग्य बना देगा और सभी आपदाओं से आप की रक्षा करेगा।

ईश्वर महान है और हम केवल रजमात्र हैं, किन्तु अपने अभिमान में जबकि जिह्वा से हम कहते हैं कि ईश्वर महान है किन्तु हमारे कार्य इस कथन को झूठा सिद्ध करते हैं और दिखाते हैं कि हम ईश्वर को कुछ नहीं समझते और अपने आप को बहुत बड़ा मानते हैं। किन्तु अब समय आ गया है कि हम अपनी सहायता का अनुभव करें।

यदि आपको ईश्वर में विश्वास नहीं है तो मैं आपकी कोई मदद नहीं कर सकता और यदि आपको ईश्वर में विश्वास है तो आपको मेरी सहायता की कोई आवश्यकता नहीं।

हम पल–पल अपने जीवन में यह देखते हैं कि उसकी अनुमति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिला सकते। फिर घमंड किस बात की ? चिन्ता कैसी ?

मुझे ईश्वर का स्मरण प्रतिक्षण बना रहता है, इसका अर्थ यह है कि अपनी जागृत अवस्था में भी ऐसा समय नहीं होता जब मुझे इस बात का भान न हो कि ईश्वर मुझमें है और वह सब देख रहा है। यह भान मेरी बुद्धि का है और यह अभ्यास से प्राप्त हुआ है।

आध्यात्मिक रोगों का मूल है अभिमान दवा है–अभिमान त्याग दें और शून्य बना जाएँ।

शून्यवत होने का अर्थ मैं करता हूँ वृत्ति को छोड़ना। इसमें निराशावाद के लिए स्थान ही नहीं है।

जो कुछ होता है वह कर्म का फल है, अत्यन्त न्याय युक्त है मगर कर्म की गति गहन है। हम देह धारी इतने ज्यादा पामर हैं कि मामूली से मामूली परिणाम के लिए भी जितने, कर्म के जिम्मेदार होते है उस सबका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। इसलिए यह कहना कि ईश्वर की कृपा के बिना कुछ नहीं होता है, ठीक है और यही शुद्ध

सत्य है। देह में रहने वाली आत्मा एक घड़े में रहने वाली हवा की तरह कैदी है और घड़े की हवा जब तक अपने को अलग समझती है तब तक वह अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर सकती। इसी तरह शरीर में कैद आत्मा अगर यह माने कि वह स्वयं कुछ करती है तो सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति से वंचित रहती है। इसलिए यह कहना कि जो कुछ होता है, वह ईश्वर ही करता है, वास्तविक है। सत्यनिष्ठ आत्मा की इच्छा पुण्य होती है और इसलिए वह फलती ही है। जगत हमसे भिन्न नहीं है और न हम जगत से भिन्न हैं। सब एक दूसरे में ओत–प्रोत हैं और एक के काम का असर दूसरे पर हुआ करता है। विचार भी कार्य है, इससे एक भी विचार बेकार नहीं जाता। इसलिए हमें हमेशा अच्छे विचार करने की आदत डालनी चाहिए।

आत्मानुभूति करना और शरीर का सुध खो देना अर्थात् शून्यवत हो जाना ही आत्म–साक्षात्कार कर लेना है।

जैसे मेरे जाने बिना बाल बढ़ते हैं, उसी तरह आध्यात्मिक जीवन में वृद्धि होती रहती है।

ईश्वर हमारा मार्ग दर्शन करे इसके लिए हमें अपने आपको उसके आगे शून्य कर देना होगा।

जो काम ईश्वर के नाम पर उसकी प्रेरणा से किया जाता है, उसे वही पूरा कराता है। कर्त्ता–धर्त्ता तो वही है, इसलिए हम तो कोरे के कोरे है। जब कोई लकड़ी दूसरे को मारे तो वह काम लकड़ी का नहीं, वरन लकड़ी के मालिक का है। इसीतरह अगर हम अपना शरीर सौंप दें और उस शरीर से काम लें, तो वह काम शरीर का नहीं, बल्कि ईश्वर का है। यश अपयश उसी का है।

आपका और मेरा रक्षक ईश्वर है, मुझे अपना रक्षक मानना ईश्वर की निन्दा होगी।

मेरा ईश्वर की आवाज सुन सकने का कोई दावा नहीं है पर दुर्भाग्य से प्राप्त परिणामों को छोड़कर और किसी तरह उसकी सच्चाई साबित करने को कोई मार्ग मेरे सामने नहीं है। यदि ईश्वर अपने रचे

हुए प्राणियों को यह शक्ति दे कि वे उसके अस्तित्व को सिद्ध–असिद्ध करने का विषय बना लें तो ईश्वर, ईश्वर ही न रहें। किन्तु वह उसकी शरण में अपने आपको सर्वतोभावेन अर्पित कर देने वाले आत्म निवेदक दास को वह शक्ति अवश्य देता है कि वह कठिन से कठिन अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाए। मैं प्रायः पचास वर्ष से अधिक समय से इस सबसे बड़े न्याय प्रिय स्वामी का सर्वतोभावेन दास रहा हूँ। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया उसका अन्तर्नाद मेरे लिए अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। मेरे जीवन की अँधेरी से अँधेरी घड़ियों में भी उसने मेरा हाथ नहीं छोड़ा। कितनी ही बार तो उसने मेरे ही संकल्पों के विरूद्ध मेरी रक्षा की और स्वतंत्रता का लेश भी मुझमें शेष नहीं छोड़ा। मैं जितना ही अधिक अपने को उसकी शरण में अर्पित करता गया, मैंने उतना ही अधिक आनन्द पाया।

हम सब तो ईश्वर के हाथ में है उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता तक नहीं हिलता। यदि हम सब कुछ अपनी इच्छानुसर कर सकते होते तो संसार का विनाश ही हो जाता। शायद यह एक तरह से अच्छा ही है कि हमारी इच्छाएँ अक्सर अपूर्ण रह जाती हैं। ईश्वर के प्रति हमारी वफादारी, इससे यह परीक्षा हो जाती है कि जब हमारी इच्छाओं की पूर्ति नहीं करता हम तब भी उसमें श्रद्धा रखते हैं।

आज अगर हम अपना अशुद्ध हृदय लेकर अपने सिरजनहार के सामने जायें तो वह हमे अपनाने से इंकार कर देगा, क्योंकि हमने तो अपनी करतूतों से खुद ही अपने परमपिता से नाता तोड़ लिया है।

ईश्वर तो स्वयं परम रहस्यमय हैं। फिर उनकी किसी लीला से हम चकराएँ क्यों? यदि उसकी गति वैसी ही हो जाए, जैसी हम चाहें या उसकी गति भी हमारी जैसी हो जाए तो न हम उनकी सृष्टि रहेंगे और न वह हमारा स्रष्टा। हम जिस अभेद्य अंधकार से चतुर्दिक घिरे हुए हैं, वह अभिशाप नहीं वरदान है। उसने बस हमें यह देखने की शक्ति दी है कि अब आगे कौन से कदम उठाने हैं और अगर उसका दिव्य आलोक हमें ठीक–ठाक उतना ही दिखाई देता है तो

पर्याप्त है। अपने अतीत के अनुभवों से हम इस बात के लिए आश्वस्त हो सकते हैं कि वह अगला कदम हम सदैव देख सकेंगे। दूसरे शब्द में अभेद्य अंधकार सचमुच वैसा कुछ अमेद्य नहीं है जैसा होने की हम शायद कल्पना करते हों। लेकिन जब हम अधीर होकर उस एक पग से आगे देखना चाहते हैं तब वह अमेद्य लगता है। चूँकि ईश्वर प्रेमरूप है, इसलिए हम निश्चपूर्वक यह सकते हैं कि वह हमें यदा–कदा जो भौतिक विपत्तियाँ भेजता है, वे भी छिपे वरदान ही हैं, लेकिन जो उन्हें आत्मावगाहन और आत्मशुद्धि के लिए दी गई चेतावनियों के रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हीं के लिए वे वरदान हो सकती है।

ब्रह्माण्ड में हो रही प्राकृतिक घटनाओं और मानवीय व्यवहार के पारस्पारिक संबंध में मेरा जीवन्त विश्वास है और उस विश्वास के कारण मैं ईश्वर के अधिकाधिक निकट आता गया हूँ। मुझमें विनम्रता आई है और मैं अपने को ईश्वर के सम्मुख उपस्थित करने के लिए अधिकाधिक तैयार होता गया हूँ ।

अगर हम अवसर दें तो भगवान स्वयं अपने विशाल कंधों पर हमारी सारी चिन्ताओं का बोझ ले लेते हैं। मैं लिख रहा हूँ बात जितना सत्य है उतना ही सच यह बात भी है। अलबत्ता उसका तरीका हमारा तरीका नहीं है और उसके कंधे हमारे कंधे नहीं हैं। फिर भी उसकी मर्जी के अनुसार चलने में ही सारा सौन्दर्य समाहित है।

जब श्रद्धा से मानोगे कि सब कामों में परमात्मा साक्षी है और सब काम, सब विचार, सब वचन उसी को अर्पण करोगे, तो परम आनंद का अनुभव करोगे और परमात्मा की हस्ती का अनुभव अवश्य करोगे।

मेरी, तुम्हारी, सबकी डोर मीरा के बालम के हाथ में है। वह जैसे खींचेगा वैसे हम खिचेंगे। वह कब किसी की चलने देता है।

अक्सर जो चीज हमें जैसी दिखती है, वैसी नहीं होती, जिसे हम गलती से शोक, अन्याय और ऐसी ही बातें मान रहे हैं, हो सकता है कि सच्चाई में जाने पर वे वैसी न निकलें। विश्व के सारे रहस्यों को

यदि हम सुलझा सकें तो हम ईश्वर के ही समकक्ष न हो जाएँ। ईश्वर को भूल जाना ही सच्ची विपदा है और ईश्वर का स्मरण ही सच्ची संपदा है।

'ईश्वर पर विश्वास' ऐसा विषय नहीं जिस पर बहस की जा सके। यदि आप चाहेंगे कि मैं तर्क द्वारा लोगों को इस बात का यकीन दिलाऊँ तो मैं हार मानता हूँ पर मैं आपसे इतना कह सकता हूँ कि जितना मुझे इस बात का विश्वास है कि आप और हम इस कमरे में बैठे हुए हैं, इससे कहीं ज्यादा मेरा विश्वास ईश्वर में है और मैं यह भी कह सकता हूँ कि मैं हवा और पानी के बिना तो जीवित रह सकता हूँ पर ईश्वर के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। आप मेरी आँखें निकाल लें, पर इससे मैं मर नहीं सकता। आप मेरी नाक काट डाले, इससे भी मैं मरूँगा नहीं, लेकिन आप ईश्वर पर से विश्वास उड़ा दें, तो मैं उसी क्षण मर जाऊँगा। आप भले ही इसे अंधविश्वास कहें लेकिन मैं स्वीकार करता हूँ कि यह एक ऐसा अंधविश्वास है जिसे मैं बड़े प्रेम से छाती से चिपटाए हुए हूँ।

ईश्वर पर विश्वास मुझे जीवित रखने के लिए जरूरी है।

आपसे बस एक बात कहूँगा अपने जीवन में मैंने जो भी आश्चर्यजनक काम किये हैं, सो तर्क बुद्धि से नहीं किंतु सहज ज्ञान से, मैं कहूँगा कि ईश्वरादेश से प्रेरित होकर किया है।

मैंने हमेशा यह महसूस किया है कि किसी धार्मिक संगठन के पास जब अपनी आवश्यकता से अधिक धन हो जाता है तो उसके लिए ईश्वर में आस्था मिटने और धन में आस्था जमने का खतरा पैदा हो जाता है। आपको उसपर रहना बंद करना है। आप रोटी तक पर निर्भर मत रहिए और ईश्वर से सौदेबाजी मत कीजिए कि जब तक ईश्वर आपको रोटी नहीं देगा, आप प्रार्थना नहीं करेंगे।

मुझे जो कष्ट, आघात पर आघात मिले, वही मेरे जीवन का सबसे अमूल्य अनुभव था। इस कठिनाइयों, दुविधाओं और शंकाओं में भी मेरी आत्मा को सिर्फ ईश्वर में जीवन्त आस्था से ही संतोष मिला।

मैं क्यों जा रहा हूँ कहाँ और किस लिए जा रहा हूँ ? इन बातों के बारे में मैंने कुछ भी नहीं सोचा है। यदि ईश्वर मेरा मार्गदर्शन करता है तो मैं क्यों सोचूँ ? उसके पथ प्रदर्शन में यह चिन्तन भी बाधा बन सकता है।

सीता और राम के दुख के आगे हमारा दुख किस गिनती में है।

तुममें यह समझने लायक नम्रता होनी चाहिए कि अपनी महानता और प्रकाण्ड बुद्धि के बावजूद तुम ब्रह्माण्ड में एक रजकण के समान तुच्छ हो। जीवन की बातों की निरी बौद्धिक कल्पना काफी नहीं होती। बुद्धि के लिए अगम्य आध्यात्मिक कल्पना ही वह चीज है जो मनुष्य को संतोष दे सकती है।

अगर सब समय भगवान का है तो हम एक क्षण भी निकम्मी क्यों जाने दे ? अगर हम भगवान के हैं तो हमारे शरीर का एक हिस्सा भी मौज, शौक में क्यों हो ?

मुझे तो ईश्वर के बारे में हर घड़ी प्रतीति होती है। फिर किसी से डरना क्या ?

जो जमीन पर बैठता है उसे कौन नीचे बिठा सकता है। जो सबका दास बनता है, उसे कौन दास बना सकता ?

जो ईश्वर को याद करता है, वह दूसरा सब भूल सकता है। जो दूसरा सब याद रखे और ईश्वर को भूले उसने कुछ याद नहीं किया है।

हम सब एक छोटी सी नौका में सवार हैं और ईश्वर, हमारा खेवनहार है जब ईश्वर खेवनहार हो तब हमें किसी चीज से नहीं डरना चाहिए।

जब हमारा रक्षक और साथी परमेश्वर है तो कितना भी तूफान हो, कितना भी अंधकार हो, हम क्यों और किससे डरें ? दुख के समय जो भगवान का दर्शन करता है, उसे कोई भय नहीं लगता।

जब आदमी अंतर खाली करता है, तब ईश्वर वह खाली जगह भरता है।

मैं यह नहीं समझता कि ईश्वर हमारी हर प्रार्थना का उसको हर तफसील की दृष्टि से उत्तर देता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वह हमारे कर्मो का नियामक है और मै ंइस कथन में अक्षरशः विश्वास करता हूँ कि उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। हमें अपनी इच्छा के अनुसार बरतने की जो स्वतंत्रता है वह किसी खचाखच भरे जहाज के यात्रियों को अपनी इच्छानुसार बरतने की स्वतंत्रता से भी कम है किन्तु जहाज में अपने को अवरूद्ध अनुभव करूँगा वैसा ईश्वर के सान्निध्य में नहीं करता। मैंने गीता की इस मुख्य शिक्षा को अपने जीवन में उतार लिया है कि मनुष्य अपना भाग्य निर्माता स्वयं है–स्वतंत्रता का प्रयोग जिस ढंग से चाहे प्राप्त है, लेकिन परिणाम उसके हाथों में नहीं है। यह सोचना कि परिणाम भी मेरे हाथों में है, कष्ट को न्यौता देना है।

ईशोपनिषद कहता है कि सारा जगत ईश्वर से आच्छादित है। सब कुछ ईश्वर का ही है हमारा कुछ नहीं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह एक बार अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर दे और उसके बाद सेवा के लिए जितनी जरूरत हो, उतनी मात्रा में ही लेकर उसका उपभोग करे, उससे ज्यादा एक कण भी न ले। दूसरे के धन की इच्छा तक न करे। सेवा के लिए उसे जितना चाहिए, उसको छोड़कर बाकी सबको पराया धन समझे।

ईश्वर अपने भक्तों को संकट काल में कभी नहीं भूलता। शर्त यह है कि उसे ईश्वर में पूर्ण विश्वास और चरम श्रद्धा हो। इस विश्वास की कसौटी यह है कि अपना कर्त्तव्य पालन करने के बाद वह जो भी फल मिले, दुख या सुख, सौभाग्य या दुर्भाग्य उसके लिए तैयार रहे। प्रार्थना करने वाले आदमी को ईश्वर पहले तो दुर्घटनाओं से बचाता है, लेकिन यदि कोई दुर्घटना होती है, तो उसके लिए न तो अपना भाग्य कोसना चाहिए और न ईश्वर को दोष देना चाहिए। उससे उसकी मानसिक शांति भंग नहीं होनी चाहिए और उसकी इच्छा के सामने उसे प्रसन्नतापूर्वक सिर झुका देना चाहिए।

जब फिकर करने वाले ईश्वर हैं तो हम क्यों करें ?

ईश्वर का अस्तित्व बुद्धि–गम्य नहीं है अर्थात् बुद्धि अमुक हद तक ही समझ सकती है, उससे आगे नहीं, यह श्रद्धा की और उससे प्राप्त अनुभव की ही बात है या तो हम अपने पूर्वजों का अनुभव माने या फिर स्वयं अनुभव प्राप्त करके तृप्त हों। लेकिन जो श्रद्धा–अनुभव की भी जरूरत नहीं रखती, वही सच्ची श्रद्धा है।

जो कुछ हम करें सो न किसी को खुश करने के लिए न रंजीदा करने के लिए–सिर्फ अपने ईश्वर को खुश करें।

पूर्ण स्थितप्रज्ञ और पूर्ण अनासक्त होने की स्थिति में पहुँचने की मेरी इच्छा है–मेरा प्रयत्न है। इस प्रयत्न की सफलता तो मेरी मृत्यु पर ही निर्भर है। इसलिए आज मैं घोषणा कर दूँ कि मैं पूर्ण स्थितप्रज्ञ और अनासक्त हूँ तो मेरे जैसा मूर्ख कोई नहीं बल्कि मैं अहंकारी माना जाऊँगा। परंतु अंत समय राम जी का नाम रटने की ईश्वर सुझाये तो समझ लेना कि मैं प्रयत्नो में सफल हुआ।

मैं तो जो मुझे सच लगता है उसे जरूर कहूँगा। मनुष्य, मनुष्य का मूल्यांकन कर सकता है, इस बात को मैं पूरी तरह नहीं मानता। एक प्रबल शक्ति ही हमारा मूल्यांकन कर सकती है। हम उसके वफादार रहकर उसका डर मानकर चलेंगे तो ही हमारा मंगल होगा। मनुष्य को खुश करने के लिए कार्य करने की बजाय यदि हम, ईश्वर को किस कार्य से प्रसन्नता होगी। इस बात को ध्यान रखें, तो हमारा मार्ग बहुत सुगम हो जाए।

जो सब कुछ ईश्वरार्पण करता है वह निराशा को अपने पास क्यों रखें ? निराश होना हो तो परमेश्वर भले ही निराश हों। हम उसके आज्ञाकारी सेवक क्यों निराश हों ? उसने हमें जो काम सौंपा है, वह करें। अच्छे बुरे का मालिक तो वही है। यदि हमने प्रयत्न में कमी रहने दी तो समझो मारे गए और यदि कमी नहीं रही तो फिर हम जीत गए और जी गए। इतना याद रखें तो निराशा नहीं होगीं।

बाहर की सब चिन्ता छोड़कर नम्रता दिखाओ। हम तो ईश्वर के गुलाम हैं, इसलिए उसका बताया हुआ काम करेंगे, मगर चिन्ता तो वही करेगा।

ईश्वर जो ठीक समझे वह करे यही एक प्रार्थना शोभा देती है। प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी प्रार्थना करने का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यही है कि प्रार्थना का स्थूल अर्थ नहीं करना चाहिए। हमारे हृदय के भीतर विद्यमान ईश्वर की हस्ती के विषय में हम जागृत हैं और मोह से छूटने के कारण पलभर ईश्वर को अपने से भिन्न समझकर उससे यह प्रार्थना करते हैं कि मन जहाँ खींचकर ले जाए वहाँ हम नहीं जाना चाहते, बल्कि ईश्वर हमसे भिन्न हो तो वह हमारा स्वामी बनकर जहाँ खींच ले जाए वहाँ हमे जाना है। हम यह नहीं जानते कि हमारा श्रेय मृत्यु से है या जीवन से। इसलिए जीवित रहने में हम खुशी न माने और मरने से काँपे नहीं। दोनों को एक समान मानकर तटस्थ रहें। यह एक आदर्श है। उसे सिद्ध करने में देर लगे या कोई भी उसे सिद्ध कर सके इस विचार से हम आदर्श को कभी छोड़ें नहीं और जैसे—जैसे हमें उसमें कठिनाई हो वैसे—वैसे उसे दूर करने के लिए और प्रयत्न करते रहे।

ऐसा नहीं कि जो लोग ईश्वर में आस्था रखते है, उन्हें ऐसा कोई पट्टा लिख दिया गया है कि वे सदा सुख का अनुभव करते रहें।

पशु हिंसा बंद कराने की शक्ति न होने के कारण उनकी सेवा नहीं कर पाने से मैं लज्जा का अनुभव करता हूँ। लेकिन उसके लिए मैं ईश्वर को दोष देता हूँ कि उसने मुझमें ऐसी शक्ति क्यों नहीं दी? इसके लिए मैं उससे हमेशा झगड़ता हूँ और विनय करता हूँ। लेकिन ईश्वर तो अपनी मर्जी चलाता है। जब वह किसी की नहीं सुनता तब मेरी क्यों सुनेगा? ऐसा हो सकता है कि वह मेरी बात औरों से जल्दी सुन ले।

मेरी मान्यता है कि जिन्दगी का बीमा करवाना ईश्वर के प्रति किसी न किसी मात्रा में हमारी आस्था की कमी का सूचक है।

निर्बल को चिन्ता किस बात की; बलवान के बल को नष्ट किया जा सकता है, पर निर्बल के बल का नाश कौन कर सकता है? लेकिन निर्बल होते हुए भी मैं अपने को बलवान मानता हूँ, क्योंकि मैं

ईश्वर के बल पर जूझता हूँ। इसकी प्रेरणा से खाता हूँ पीता हूँ, लिखता हूँ, बोलता हूँ। इसलिए मैं अपने पर किसी तरह का बोझ का अनुभव नहीं करता।

दुनिया में होने वाली क्रांति का कारण महापुरुषों को होना दिखाई देता है। जैसे ग्रह नियमित रूप से घूमते हैं वैसे ही क्रांति के बारे में भी है। बात इतनी ही है कि हम उन नियमों और कारणों को नहीं जानते, इसलिए वह अकस्मात हुई, ऐसा मानते हैं।

मेरी मनः स्थिति गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते सी नहीं है। मुझे अपने मर्यादा का भान है। मैं तो रजकण हूँ। रजकण का भी ईश्वर के जगत में स्थान है। यदि वह कुचल जाना कूबूल कर लें तो। कर्त्ता—धर्त्ता तो वह बड़ा कुम्हार ही है। वह जो काम चाहे मुझसे ले। हार भी उसी की होगी और जीत भी उसी की। इसीलिए हमारे हारने का सवाल ही नहीं है अथवा यों कहें कि हम तो सदा के लिए हारे हुए हैं।

आप मेरी रक्षा करने का यत्न न कीजिए। हम सबकी रक्षा करने वाला तो अनन्त बाहु है। आप विश्वास रखिए कि जब मेरे दिन पूरे हो जाएँगे, तब दुनिया का मशहूर से मशहूर हकीम भी मेरे और ईश्वर के बीच में खड़ा नहीं हो सकेगा।

जब मैं अपनी तमाम सीमाओं और अपने अज्ञान की बात सोचता हूँ तो मेरा मन घोर निराशा में डूब जाता है। लेकिन यह विचार और अनुभव करते हुए मैं फिर ऊपर निकल आता हूँ कि यह तो मेरे अंदर बैठा भगवान है, जो मुझे चला रहा है और अपने साधन के रूप में मेरा प्रयोग कर रहा है। वह मुझे ठीक समय पर ठीक शब्द सुझा देगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मुझसे कोई भूल नहीं होगी, लेकिन मैं ऐसा मानने लगा हूँ कि भले ही हमारा घमण्ड तोड़ने के लिए ही क्यों न हो, ईश्वर हमसे जान—बूझकर गलतियाँ कराता है।

आचार्य वह है जो अपने सदाचार से हमें सदाचारी बनावे। सच्चा व्यक्तित्व अपने को शून्यवत बनाने में है।

अनाथ तो वही व्यक्ति अपने को समझ सकता है, जिसके सिर पर ईश्वर न हो। लेकिन ईश्वर तो सबके सिर पर है। इसलिए अपने ही घोर अज्ञान के कारण हम खुद को अनाथ मानते हैं। सच्चा कवच मनुष्य नहीं हमारी श्रद्धा हैं। मानव शरीर की हस्ती तो काँच की चूड़ी से भी बहुत ओछी है। काँच की चूड़ी को सँभाल कर रखने से सैकड़ों वर्षों तक बनी रह सकती है पर मनुष्य शरीर तो चाहे कितने ही प्रयत्न किए जाएँ एक निश्चित अवधि से आगे जा ही नहीं सकता और उस अवधि के भीतर भी चाहे जब नष्ट हो सकता है। ऐसी चीज पर क्या भरोसा ?

अहंकार के बीज शून्यता अनुभव करने से ही नष्ट होते हैं। एक क्षण के लिए यदि कोई गहराई से विचार करे तो उसे अपनी अति अल्पता का भान हुए बिना नहीं रहेगा। पृथ्वी के सन्दर्भ में हम जन्तु को तुच्छ मानते हैं। किन्तु इस विश्व के सन्दर्भ में मनुष्य प्राणी उससे भी हजार गुणा अधिक तुच्छ हैं। मनुष्य में बुद्धि है, उससे इस स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। उसकी महिमा अपनी तुच्छता अनुभव करने में है। क्योंकि इस अनुभव के साथ ही यह दूसरा ज्ञान पैदा होता है जैसे वह मनुष्य के रूप में तुच्छ है, वैसे ही भगवान का तुच्छतम अंश होते हुए भी जब वह भगवान में विलीन होता है तो वह भगवद् रूप बन जाता है और यह सूक्ष्म अणु भगवान की शक्ति से भरपूर है।

भविष्य में कौन सी जबाबदारी उठाई जाए और कौन सी नहीं इसका निर्णय ईश्वर पर छोड़ देना। हमें तो केवल इतना निश्चय कर लेना है कि कैसी भी स्थिति हो हम सत्य का पालन करेंगे और हमें यह विश्वास बनाए रखना है कि जो लोग ईश्वर के भरोसे हैं, उनकी कसौटी वह उनकी शक्ति के बाहर नहीं करता खेद इस बात की है कि हम उसके अधीन ही नहीं रहते।

बर्बादी का दृश्य देखकर मैं कातर हो गया, लोगों का कष्ट देखकर मेरा दम घुटने लगा। लेकिन तभी मुझे कुंती की प्रार्थना का स्मरण हो गया कि हे ईश्वर मुझे सदैव दुख और दुर्भाग्य दे, अन्यथा मैं तुम्हें कहीं भूल न जाऊँ? हो सकता है इस प्रार्थना के लिए मेरी कुंती जैसी अगाध श्रद्धा न हो, लेकिन इन दुखद घटनाओं से क्या हम अपनी आत्मशुद्धि की और अपनी वृतियों को ईश्वरोन्मुख करने की शिक्षा भी नहीं ले सकते ?

जो हो रहा है, अच्छा ही हो रहा है। ईश्वर के अधीन रहने में यह सब लाभ है। होनी होकर रहती है, लेकिन ईश्वरार्पण बुद्धि को कदापि असंतोष नहीं होता और जिस व्यक्ति को अहंभाव है उसे किसी चीज से संतोष नहीं होता।

काहे की चिन्ता है ? अपना सोचा हुआ सब का सब कैसे पूरा हो सकता है ? जो सेवा हाथ में आए उसे प्रफुल्लित मन से करते रहना यह कर्त्तव्य है। फिर क्या दुख और क्या सुख ? निश्चय ही प्राप्त किया जा सके ऐसा इस जगत में क्या है ? जीवन ही चार दिन का है और बिल्कुल अनिश्चित, फिर यहाँ अपने क्रिया–कलाप का क्या भरोसा ? स्थिर केवल हमारा धर्म है और वह आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए अमर है और समूचा धर्म सत्य और अहिंसा में समाया हुआ है।

मेरी नैया किधर जा रही है, इसकी मुझे खबर नहीं है। खेवनहार भगवान है, तब वह किधर जाती है, भला इसकी चिन्ता मैं क्यों करूँ? किसी न किसी दिन तो नाव डूबना ही है। उस दिन का हिसाब रखकर क्या करना है ?

मेरी शांति और विनोद का रहस्य है–मेरी ईश्वर यानि सत्य पर अविचलित श्रद्धा। मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरे में ईश्वर है, वह मुझसे सब कुछ कराता है तो मैं कैसे दुखी हो सकता हूँ। यह भी जानता हूँ कि जो कुछ मुझसे कराता है, वह मेरे भले के लिए ही। इस ज्ञान से मुझे खुश रहना चाहिए।

मेरी तवीयत की फिक्र करने का मतलब है कि न तू ईश्वर को जानती है और न मुझको। ईश्वर को जाने तो समझेगी कि तू, मैं और दूसरे सब उसी के मातहत हैं।

जो अपने अस्तित्व को शून्य कर लेता है उसी का अस्तित्व रहता है।

मनुष्य तो रंक प्राणी है। वह राजा तभी होता है जबकि वह अहंकार छोड़कर ईश्वरमय हो जाता है। समुद्र से अलग होकर बूँद किसी काम की नहीं रह जाती।

सबसे बड़ी परीक्षा तो तब होती है, जब हमारे पवित्र उद्‌देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में बाधाएँ पहुँचाई जाती हैं। ईश्वर की गति न्यारी और बुद्धि से परे है। हमें यह मानकर चलना चाहिए कि मनुष्य की कोई विसात नहीं, परमात्मा की ही मर्जी सब कुछ है। 1

शास्त्र

हमारे सभी शास्त्र विचारपूर्वक और ज्ञानपूर्वक लिखे गए हैं ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। चार्वाक दर्शन भी शास्त्र माना गया है। जिसमें शुद्ध ज्ञान नहीं है, वही शास्त्र है, ऐसा अर्थ करें तो यह कहा जा सकता है कि समस्त शास्त्र ज्ञानपूर्वक ही लिखें गए हैं। इस विचार के अनुसार जिन शास्त्रों में नरमेध आदि का उल्लेख हो उन्हें अज्ञानपूर्ण मानना चाहिए। ऐसी बातें संभव है शुद्ध शास्त्रों में बाद में प्राक्षेपिक कर दी गई हो। यह सारी खोज आत्मार्थी को करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह तो इतिहास के पंडितों का काम है। हमें तो लिखे या बोले गए शब्दों से सार की बात ग्रहण करने की है। सब शास्त्रों को शास्त्र मानकर उनकी अनर्थकारी बातों में भी अर्थ ढूँढ़ने की और उन्हें सिद्ध करने की झंझट में हम क्यों पड़े ।

केवल पुस्तकीय ज्ञान पाने वाले लोग कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा वचन गीता जी में है। "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन", यह वाक्य श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था, इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्रविहित कर्म न किए जाएँ, परंतु उन्हें करना ही काफी

नहीं है। अर्थ यह कि उनका गूढ़ अर्थ समझकर, उनका हेतू समझकर हम उनसे आगे बढ़ें। जो आदमी विहित कर्म छोड़कर शुष्क ब्रह्मवादी बन जाता है, वह न तो इधर का रहता और न उधर का।

गीता जी पढ़कर भी यदि वह अंत समय हमारी मदद न करें तो गीताजी को पढ़ना न पढ़ना बराबर है। जो पढ़ो उसपर विचार करो और उसका रहस्य समझकर उसके अनुसार आचरण करने को तैयार रहो।

धर्म–ग्रंथों में मुद्रित प्रत्येक श्लोक का समर्थन कर देने से सनातन धर्म की रक्षा न होगी। बल्कि उनमें प्रतिपादित त्रिकाल बाधित तत्वों को कार्यरूप में परिणत करने से ही उसकी रक्षा होगी।

गीता में हिंसा नहीं–

गीता कोई ऐतिहासिक कृति नहीं है, वह तो महान ग्रंथ है। जिसमें समस्त धर्मों की शिक्षाएँ सार रूप में दी गई हैं। यदि भगवान गीता में अर्जुन को हिंसा करने के लिए कहते हैं तो अपने अन्यायी सगे सम्बंधियों को शारीरिक दंड न देकर गीता के प्रति अपराध करते हैं।

भगवान कहते हैं कि तू क्रोध–रहित होकर लड़, काम और क्रोध–रूपी दोनों महान शत्रुओं को जीत और मित्र और शत्रु सबके प्रति सम दृष्टि रख, सांसारिक भोग, सुख और दुख मूलक हैं। वे अस्थायी हैं, तू इन द्वंदों को सहन कर।

सभी को यह अनुभव है कि बिना अमर्ष के कोई अपने शत्रु को नहीं मार सकता। नरसिंह मेहता भी भगवद गीता के उपदेशों से दीक्षित थे। अपने शत्रुओं को भी उन्होंने प्रेम से जीता। भगवद गीता से हिंसा की प्रेरणा लेने का तो एक ही अर्थ निकल सकता है कि घोर कलियुग आ गया है। यह बिल्कुल सच है कि हम जो कुछ भी पढ़ते, लिखते और देखते हैं, उसमें अपनी ही भावनाओं की प्रति छाया पाते हैं। यदि यह सच है कि ईश्वर ने मनुष्यों को बनाया है, तो यह भी उतना ही सच है कि मनुष्य जैसा स्वयं होता है वह अपने लिए वैसा ही ईश्वर बना लेता है। मुझे तो भगवद् गीता के प्रत्येक पृष्ठ में प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता है।

जो बुद्धिगम्य नहीं है, जिसे हृदय स्वीकार नहीं करता वह शास्त्र हो ही नहीं सकता। ऐसी मेरी मान्यता है। और मुझे लगता है जो केवल धर्म पर आचरण करता है, उसे यह सिद्धांत स्वीकार करनी चाहिए। हिन्दू धर्म के नाम पर और शास्त्र के नाम पर जो कुछ कहा गया है, उसे सच है, ऐसा मानना भयंकर भूल है।

अनेक हिन्दू, भंगियों को स्पर्श न करने के औचित्य के संबंध में शास्त्रों का उदाहरण देते हैं। लेकिन मैं कहता हूँ कि अगर कोई शास्त्र यह कहता है कि भंगी को छूना पाप है तो वह शास्त्र नहीं अशास्त्र है। जो बुद्धिगम्य न हो, जो सत्य न हो उसे शास्त्र कदापि नहीं कहा जा सकता। इनके अलावा शास्त्र के कितने ही अर्थ किए जा सकते हैं। हम शास्त्र के नाम पर क्या नही करते? शास्त्र के नाम पर साधु बाबा भांग पीते हैं? गाँजा फूँकते हैं, शास्त्र के नाम पर देवी के भक्त मांस–मंदिरा का सेवन करते हैं। शास्त्र के नाम पर अनेक व्यक्ति व्यभिचार करते है। शास्त्र के नाम पर मद्रास में कोमल बालाओं को वेश्या बनाया जाता है। इससे ज्यादा शास्त्र का अनर्थ क्या हो सकता है? मैं अपने को कट्टर वैष्णव मानता हूँ। मैं वर्णाश्रम धर्म को माननेवाला हूँ, लेकिन मैं कहता हूँ कि यदि भंगी के स्पर्श से हम अस्पृश्य हो जाते हैं तो यह वर्णाश्रम धर्म की ज्यादती है, उसपर चढ़ा हुआ मैल हैं।

इस सूत्र में मेरा पूर्ण विश्वास है कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को सिद्ध नहीं कर लिया, जिसने धन–संपत्ति के प्राप्ति की आंकाक्षा या उसे रखने की लालसा का त्याग नहीं कर दिया, उसे वास्तव में शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान नही होता।

रामायण से बढ़कर प्रिय पुस्तक मेरी दृष्टि में दूसरी कोई नहीं, फिर भी तुलसीदास जी ने कितनी ही धर्म शास्त्र की बातें लिखीं क्या वे सब प्रमाण्य हैं? मनुस्मृति तो बड़ा प्रमाणिक ग्रंथ है न? पर उसमें मांसाहार की स्पष्ट आज्ञा है। इससे क्या आप मांस खाएँगे? आप ऐसी बातें सुनकर चौंकते हैं, कोई मांस खाता है तो भी लुके–छिपे, यह दूसरी बात है। परंत मनु स्मृति में लुके–छिपे नहीं, सरेआम मांस खाने की आज्ञा दी गई है। फिर भी हम उसे त्याज्य मानते हैं। तब कलियुग में जिस चीज की मनाही है, क्या सत्ययुग में उसकी अनुमति रही होगी? सत्युग में अभक्ष्य–भक्षण किया जा सकता था परंतु इस कलियुग में नहीं, क्या यह बात बेतुकी नहीं मालमू होती? किन्तु सत्य यह है कि धर्म को किस दृष्टि से देखना चाहिए मुख्य बात यही है। इस बारे में दो बातें ध्यान में रखनी है–एक यह कि हम धर्म का विचार बुद्धि से नहीं हृदय से करें और दूसरी कि हम धर्म के नाम पर अधर्म न फैलायें। आप यह बात समझ लें कि गीता का अनर्थ हो सकता है, भीम ने दुर्योधन पर गदा प्रहार किया–इसलिए यदि कोई यह कहे कि भाई–भतीजे एक दूसरे का कत्ल कर सकते हैं तो मैं कहूँगा कि वह गीता पढ़ना नहीं जानता। यह तो केवल हृदय का विषय है। मेरे धर्म का आधार बुद्धि नहीं हृदय है।

महाभारत की तुलना थोड़े से सुन्दर जवाहरात वाले किसी खजाने के साथ नहीं की जा सकती। वह किसी ऐसी अक्षय खान के समान है जिसे जितना गहरा खोदिए उतने ही काफी, रत्न उनमें से निकलते है। मेरे मतानुसार महाभारत में रूपक द्वारा विश्व के सनातन सत्यों की चर्चा की गई है। यह ग्रंथ किसी महानद के समान है, जो आगे की ओर बहता हुआ अनेक नदियो ंको उनमें समेट लेता है।

मैं हिन्दू धर्म ग्रंथों के किसी भी आदेश का समर्थन केवल इस आधार पर नहीं करता कि वह शास्त्र की आज्ञा है। इसी तरह मैं कुरान की किसी बात को भी इसलिए नहीं मान सकता कि वह कुरान में लिखी है। प्रत्येक बात कसौटी पर कसी जानी चाहिए।

मैं मनुष्य हूँ और ईश्वर से डरता हूँ। इस रूप में किन्हीं भी स्थितियों मे ऐसे (अमानवीय) तरीकों की नैतिकता पर मुझे रोक करनी चाहिए। प्रत्येक धर्म के प्रत्येक नियम को विवेक के इस युग में पहले विवेक और व्यापक न्याय की अचूक कसौटी पर कसना होगा। तभी उन पर संसार की स्वीकृति माँगी जा सकती है। किसी भूल का

समर्थन संसार के समस्त धर्मग्रंथो में किया गया हो तो भी वह इस नियम से मुक्त नहीं हो सकता।

हजारों साल पहले जब कुरूक्षेत्र में युद्ध हुआ था, तब अर्जुन को जो शंका हुई थी, भगवान ने उसका निराकरण गीता द्वारा किया था। लेकिन यह कुरुक्षेत्र का युद्ध हमारे मन में सैदव चलता रहता है और चलता रहेगा और हमारी अन्तरात्मा अर्थात योगेश्वर कृष्ण जीवरूपी अर्जुन को दिशा का भान कराने के लिए सदा मिलते ही रहेंगे तथा सदा ही आसुरी सम्पत्ति रूपी कौरवों की हार और दैवी सम्पत्ति रूपी पांडवों की विजय होगी। लेकिन जब तक विजय नहीं मिल जाती तब तक हृदय में श्रद्धापूर्वक इस युद्ध को चलने देना चाहिए और मन को शांत रखना चाहिए। यह ठीक है कि किसी के भय से अन्तःप्रेरणा को दबाए नहीं रखना चाहिए। क्योंकि यह पूछना नास्तिकता है, ऐसा समझना चाहिए, हृदय से ही उसका उत्तर मिल जाएगा ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

राम द्वारा वेदों को पढ़ने का साहस करने के कारण एक शूद्र को दंड देने के आख्यान को मैं एक क्षेपक मानकर अस्वीकार करता हूँ। तुलसीदास का ऐतिहासिक राम से कोई मतलब नहीं था। इतिहास की कसौटी पर कसने से उनकी रामायण रद्दी की ढेर पर फेंकने लायक हो जायेगी। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूतियों की झाँकी देने में यह कृति अनुपम है। मैं इसके हर शब्द को बिल्कुल ठीक नहीं मानता किंतु इसमें जो भावना व्याप्त है उसपर मंत्र–मुग्ध हूँ।

संस्कृत में लिखी गई सारी कृतियाँ धर्मशास्त्र है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इसी तरह यह भी नहीं मानना चाहिए कि धर्मशास्त्र माने जाने वाले मनुस्मृति आदि प्रमाण ग्रंथों में जो कुछ आज हम पढ़ते हैं वह सब मूलकर्त्ता की कृति है और यदि वह उसकी कृति हो तो वह आज भी अक्षरशः प्रमाण रूप है; मैं स्वयं तो ऐसा कतई नहीं मानता। कुछ सिद्धांत अवश्य सनातनी सिद्धांत है और उन निश्चित सिद्धांतों को मानने वाला सनातनी है। मगर उन सिद्धान्तों को आधार मानकर

जो आचार विभिन्न युगों के लिए बनाए गए थे, वे सब अन्य युगों में भी उपयुक्त ही होने चाहिए, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। स्थान, काल और संयोगों के कारण आचार बदला करता है। पहले जमाने में मरण के बाद किए जाने वाले भोज में चाहे कुछ अर्थ भले ही हो, लेकिन इस जमाने में उसकी सार्थकता समझ में नहीं आ पाती। जिस विषय में बुद्धि का प्रयोग किया जा सकता, वहाँ श्रद्धा की गुजांइश नहीं होती। जो बातें बुद्धि से परे हैं, उन्हीं में श्रद्धा का उपयोग है।

शास्त्रों का अर्थ करने में संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। शूद्र को वेदाध्ययन करने का अधिकार नहीं यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात असंस्कार, मूर्ख अज्ञानी। ऐसे व्यक्ति वेदादि का अध्ययन करके उनका अनर्थ करेंगे। बड़ी उम्र में भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न अपने आप समझने के अधिकारी नहीं है। उनको समझने के पहले उन्हें कुछ प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। व्यभिचारी के मुख में 'अंहब्रह्मस्मि' क्या शोभा देगा ? उसका वह क्या अर्थ या अनर्थ करेगा ?

शास्त्र का अर्थ करने का नियम यह है कि उसके शब्दों को पकड़ कर नहीं बैठना चाहिए, उसके मर्म को समझना चाहिए। तुलसीदास जी कृत रामायण उत्तम ग्रंथ है। क्योंकि उसकी ध्वनि है–स्वच्छता, दया, भक्ति। उसमें 'शूद्र, गँवार, ढोल, पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी' लिखा है। इसलिए यदि कोई पुरूष अपनी स्त्री को ताड़े तो उसकी अधोगति होगी। तुलसीदास जी ने केवल एक प्रचलित वाक्य लिख दिया। उन्हें इस बात की कल्पना भी न रही होगी कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी अर्द्धांगिनी को ताड़ना करने वाले पशु भी निकल पायेंगे। और यदि स्वयं तुलसीदास जी ने रिवाज के वशवर्ती होकर अपनी पत्नी का ताड़न किया हो तो क्या होता है ? ताड़ना अवश्य दोषपूर्ण है ? रामायण पत्नी के ताड़ना के लिए नहीं, पूर्ण पुरूष का दर्शन कराने के लिए, सती शिरोमणि सीता

जी का परिचय कराने के लिए और भरत की आदर्श भक्ति का चित्र चित्रित करने के लिए लिखी गई है। दोषयुक्त रिवाजों का जो समर्थन उसमें पाया जाता है, वह त्याज्य है। तुलसीदास जी ने भूगोल सिखाने के लिए अपना अमूल्य ग्रंथ नहीं बनाया है, इसलिए उनके ग्रंथ में यदि भूगोल की दृष्टि से गलत बातें पाई जायें, तो उनको अस्वीकार करना उचित है।

हिन्दुओं की समस्त धार्मिक क्रियाओं में संस्कृत का व्यवहार किया जाना चाहिए, ऐसा मेरा मत है। अनुवाद चाहे कितना ही अच्छा हो परंतु विशेष शब्दों की ध्वनि में जो रहस्य होता, वह अनुवाद में नहीं मिलता। इसके सिवा इन मंत्रों को ऐसी एक भाषा, जो हजारों वर्षों के प्रयोग से संस्कार समृद्ध हुई है।

गीता और रामायण को यदि विचारपूर्वक पढ़ा जाए तो उसी से सब कुछ मिल जाता है। हृदय को पवित्र करने और एकाग्रचित होने के लिए उपर्युक्त पुस्तकों का पठन और मनन तथा जब शुभ कार्यों में न लगे हो तब रामनाम का जाप बहुत सहायक हाता है।

मैं स्वयं पुराणों को धर्म ग्रंथों के रूप में मानता हूँ। देवी–देवताओं को भी मानता हूँ। किन्तु यह मैं जानता हूँ कि पुराण पंथी उन्हें जिस रूप में मानते है अथवा जिस तरह हमसे मनवाना चाहते हैं, मैं उन्हें उस तरह नहीं मानता। आजकल का समाज भी उन्हें जिस तरह मानता उस तरह भी मैं नहीं मानता । इन्द्र वरूण इत्यादि देव आकाश में रहते हैं और अलग अलग व्यक्ति हैं अथवा सरस्वती आदि देवियाँ कोई वास्तविक व्यक्ति हैं ऐसा मैं नहीं मानता, किन्तु मै ऐसा अवश्य मानता हूँ कि देवी–देवतागण अनेक शक्तियों के सूचक हैं। उनका यह वर्णन काव्य है। धर्म में काव्य को स्थान है। हम जिन बातों को अपने ढंग से मानते हैं उन बातों को हिन्दूधर्म ने शास्त्र का रूप दे दिया। एक तरह से वे सब लोग जो यह मानते हैं कि ईश्वर की अनन्त शक्तियाँ हैं उसी प्रकार उनके अनन्त रूप भी हैं। जिसे जैसा रूचता है वह उसे उस गुण और रूप से युक्त मानकर पूज सकता

है। मुझे यह मानने में कोई कठिनाई महसूस नहीं होती कि हिमालय पर्वत शिव है और गंगा पार्वती हैं और उनकी जटाओ से प्रवाहित हैं। इतना ही नहीं इनसे ईश्वर के विषय में मेरी भावना को बल मिलता है और मैं यह भली–भाँति समझ पाता हूँ कि सब कुछ ईश्वरमय है ।

समुद्र मंथन इत्यादि के विषय में भी जिसे जैसा योग्य लगे ऐसा नीति में वृद्धि करने वाला अर्थ बैठा सकता है। पंडितों ने अपनी–अपनी नीति के अनुसार इन सब रूपकों के अर्थ लगाए हैं। उनके उतने ही अर्थ निकल सकते हैं। ऐसी कोई बात नहीं है। शब्दों, वाक्यों इत्यादि के अर्थ में उसी प्रकार विकास होता रहता है, जिस तरह मनुष्य में। जैसे–जैसे हमारी बुद्धि और हृदय विकसित होते हैं, वैसे–वैसे शब्द और वाक्य इत्यादि के अर्थ भी विकसित होने चाहिए और होते ही रहते हैं। जहाँ लोग अर्थों को मर्यादित कर डालते हैं उनके आस–पास दीवारें खींच देते हैं वहाँ समाज का पतन हुए बिना नहीं रहता। अर्थकार और अर्थ इन दोनों का साथ–साथ विकास होता है। सभी अपनी–अपनी भावना के अनुसार अर्थ निकालते रहते हैं। व्यभिचारी को भागवत में व्यभिचारी दिखाई पड़ेगा और एकनाथ उसी में से आत्मदर्शन प्राप्त किया।

हम जो कुछ पढ़ते हैं, फिर चाहे वह वेद में हो चाहे पुराण मे अथवा अन्य किसी पुस्तक में, किन्तु यदि उससे सत्य को आघात पहुँचता हो अथवा हम जिसे सत्य मानते हैं, उस पर आघात करता हो अथवा दुर्गुणों का पोषक जान पड़ता हो तो उसका त्याग कर देना हमारा धर्म है।

गीत–गोविन्द काव्य से किसी का उपकार हुआ हो, किन्तु मेरे लिए तो उसका पठन शिक्षा दायी सिद्ध नहीं हुआ। उसका वर्णन पढ़कर मुझे दुख हुआ। मुझे यह मानते हुए कोई संकोच नहीं है कि संभव है कि इसमें दोष मेरा ही हो। मैं उसे त्याज्य मान सका उसका कारण है कि मरे पास एक मानदंड है। जो वस्तु मुझे निर्विकार कर सकती है, मेरे राग–द्वेष आदि को नरम बना सकती है, जिस वस्तु

का मनन मुझे शूली पर चढ़ते हुए भी सत्य पर दृढ़ रखने में सहायक हो सकता है, वहीं वस्तु मेरे लेखे धार्मिक–शिक्षण हो सकती है।

जागृत आत्मा बनने की शर्त क्या है? कौन उस परिस्थिति को समझ सकता है, यही बताने के लिए अर्जुन विषाद योग है। ऐसे व्यक्ति में जिज्ञासा और आतुरता सदा होनी चाहिए। विषाद योग अर्थात विषाद के माध्यम से ईश्वर के साथ जोड़ना, ईश्वर में लीन होना हो, मोक्ष प्राप्त करना हो तो हममें विषाद पैदा होना चाहिए। हमें आर्त्त बनाना चाहिए।

जिस प्रकार मुनष्य का विकास होता रहता है उसी प्रकार महा वाक्यों के अर्थ का भी विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास की जाँच करें तो हम देखते हैं कि अनेक महान शब्दों के अर्थ सदा बदलते या विस्तृत होते रहते हैं। यही बात गीता के अर्थ के विषय में भी सच है। गीताकार ने स्वयं महान रूढ़ शब्दों के अर्थों का विस्तार किया है।

गीता युग से पहले यज्ञ में पशुओं की हिंसा शायद मान्य समझी जाती होगी। परंतु गीता के यज्ञ में उसकी गंध तक नहीं आती। गीता में तो जपयज्ञ को सब यज्ञों का राजा कहा गया है। गीता का तीसरा अध्याय कहता है यज्ञ का अर्थ है मुख्यतः परोपकार के साथ शरीर का उपयोग।

गीता के संन्यास शब्द के अर्थ के विषय में भी यही बात है। कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को सह्य ही नहीं है। गीता का संन्यास अतिकर्मी है फिर भी अति अकर्मी है। इस प्रकार गीताकार ने महान शब्दों के व्यापक अर्थ करके स्वयं उनकी अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करने की बात हमें सिखायी है। कर्म के फल का संपूर्ण त्याग करने वाले मनुष्य के द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है। ऐसा अर्थ गीता की भाषा में अक्षरों–शब्दों से भले निकलता हो, परंतु गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से व्यवहार में लाने का लगभग 40 वर्ष तक सतत प्रयत्न करते–करते मुझे तो नम्र भाव से ऐसा लगा है कि सत्य और अहिंसा के संपूर्ण पालन के बिना कर्म के फल का संपूर्ण त्याग मनुष्य के लिए असंभव है।

गीता में हिंसा?

श्रीकृष्ण के पास हिंसा या अहिंसा का सवाल नहीं था। अर्जुन हिंसा से नहीं डरा था मगर स्वजनों को मारने में अरूचि पैदा हो गई थी, इसलिए श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि कर्त्तव्य–पालन करने में स्वजन, परजन का भेद किया ही नहीं जा सकता। गीता युग में लड़ाई होने वाली हिंसा की जाए या न की जाए यह सवाल किसी प्रामाणिक आदमी ने छेड़ा ही नहीं था। असल में यह सवाल इस जमाने में ही उठा मालूम होता है। अहिंसा धर्म को उस वक्त सभी मानते थे। लेकिन कहाँ हिंसा है और कहाँ अहिंसा। यह जैसा आज है वैसा ही उस समय भी चर्चा का विषय तो था ही। आज हम ऐसे बहुत से काम करते है, जिन्हें हम हिंसा नहीं मानते लेकिन शायद हमारी बाद की पीढ़ियाँ उन्हें हिंसा के रूप में लें। जैसे हम दूध पीते हैं या अनाज पकाकर खाते हैं इसमें जीव–हिंसा तो है ही। यह बिल्कुल संभव है कि आने वाली पीढ़ियाँ इस हिंसा को त्याज्य मानकर दूध पीना और अनाज पकाना बंद कर दे। आज यह हिंसा करते हुए भी हमें यह दावा करने में संकोच नहीं होता कि हम अहिंसा धर्म का पालन कर रहे है। ठीक इसी तरह गीता युग में लड़ाई इतनी स्वाभाविक मानी जाती थी कि उस वक्त मनुष्य को यह नहीं लगता था कि लड़ाई करने में अहिंसा धर्म को कुछ भी आँच आती है। इसलिए गीता की लड़ाई हमें बिल्कुल निर्दोष लगती है। लेकिन हम सारी गीता का मनन करें और स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मभूत, भक्त या योगी के लक्षण 'गीता' में देखें तो हम एक ही निर्णय पर पहुँच पाते हैं कि गीता के उपदेशक या नायक श्री कृष्ण साक्षात अहिंसा के अवतार थे और अर्जुन को यह उपदेश देने में उनकी अहिंसा को जरा भी आँच नहीं आती कि तूँ लड़ाई कर। इतना ही नहीं वे दूसरा उपदेश देते तो वे योगेश्वर या पूर्णावतार के रूप में कभी न पूजे जाते।

किसी भी धर्म का प्रचार भाषणों अथवा पुस्तकों से नहीं हुआ। कुछ पुस्तकों को हम धर्मग्रंथ मानते हैं, किन्तु वे भी सत्पुरूषों और

सतस्त्रियों के आचार विचार का प्रचार है। जिसके पीछे शुद्ध आचरण नहीं है, वह धर्मग्रंथ शांति नहीं दे सकती।

कामधेनु के रोम से सेना निकलकर विश्वामित्र का सामना किया इस कथा की मेरी व्याख्या यह है कि विश्वामित्र उतने क्रुघ होकर भी कामधेनु के एक रोम तक का स्पर्श न कर पाए। यह कथा अनाथों के नाथ ईश्वर वाली प्रसिद्ध कहावत की सत्यता सिद्ध करती है।

गीता में श्रीकृष्ण ने हिंसा का उपदेश दिया मैं ऐसा नहीं मानता। मैं भी लड़ रहा हूँ। यदि मैं हिंसात्मक ढंग से लड़ता तो प्रभावशाली ढंग से नहीं लड़ सकता था। गीता में श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ और समत्व की बाते करते हैं। श्रीकृष्ण बताते है कि स्थितप्रज्ञ की स्थित समस्त विकारों को नष्ट करके प्राप्त की जा सकती है और स्थित प्रज्ञ के लिए कत्ल करना संभव ही नहीं है। जिसकी कामनाएँ नष्ट हो गई है, जो सुख और दुख के प्रति उदासीन है, जो उन तूफानों में भी अक्षुब्ध रहता है जो मरणशील मानव को उद्विग्न कर देते है—ऐसा कोई आदमी हत्या करेगा ? यह सारी बात ऐसी भाषा में समझाई गई है जिसका सौन्दर्य अनुपम है। श्रीकृष्ण जिस युद्ध की बात कर रहे है वह आध्यात्मिक युद्ध है।

एकादश स्कंध का मेरे पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। लेकिन मैंने हमारे शास्त्रों के सर्ववचनों को वेदवाक्य सा नहीं माना है। जो व्यक्ति स्त्री के पुतली के स्पर्श मात्र से विकारी हो सकता है वह ब्रह्मचारी नहीं है। मैंने माना है कि सकारण स्पर्श करते हुए जो निर्विकार रह सके वही ब्रह्मचारी है और मेरा ब्रह्मचारी जीवन ऐसे ही व्यतीत हुआ। यह सच है कि मैं सर्वथा निर्विकार नहीं बना हूँ आप आर्शीवाद दें कि इसी जीवन में ऐसा बनूँ मेरा प्रयत्न प्रतिक्षण चलता है। इस प्रयोग की परीक्षा तो मेरे मृत्यु के बाद ही होगी।

शास्त्र रूपी कुँए में तो मैं डूबना नहीं चाहता। मैं तो इन्हें महासागर के रूप में देखता हूँ उसमें अनके मगरमच्छ भी हैं, उसके बाबजूद रत्न भी तो इसी में है। अतः रत्नरूपी इस अमृत को पाने के लिए हम मंथन करें।

गीता हमलोगों के लिए सच्ची माता हैं। क्योंकि कठिनाईयों की घड़ी में यह सांत्वना का पेयमान कराती है। इसे मैंने अपना आध्यात्मिक कोश कहा है, क्योंकि संकट के समय इसने कभी भी मुझे निराश नहीं किया। इसके अलावा यह साम्प्रदायिकता और मतान्धता से मुक्त है। इसकी शिक्षा देश कालातीत है।

मैं ऐसी आध्यात्मिक शांति और आत्मस्थिति का उपभोग करता हूँ जो दुर्लभ है और इसकी प्राप्ति मुझे मुख्यतः गीता से हुई है।

सारे धर्म ग्रंथों को पढ़ते हुए मैंने एक बात सीखी है। उसका शब्दार्थ कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। अपितु उनका सार सोच समझकर ग्रहण करना चाहिए। जो सत्य और अहिंसा की कसौटी पर खरे नहीं उतरते उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए।

वगैर अमल के अध्ययन निरर्थक हो जाता है और वह मनुष्य में घमंड पैदा करता है। इसलिए जो कुछ भी पढ़ा जाए, उसपर जल्दी से जल्दी अमल शुरू कर देना चाहिए। यदि हम वेद अथवा अन्य शास्त्रों का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं तो आधुनिक अनुभव के साथ मिलकर खूब सात्विक निरीक्षण करके शुद्ध दोहन करना आवश्यक है।

परस्पर विरोधी मतों के दो पाटों के बीच पड़कर कुचल जाने का तो कोई खतरा मुझे नहीं है, क्योंकि मैं मानता हूँ कि लिखित वेदों की चाहे जो व्याख्या की जाए अथवा हमारे प्राचीन पूर्वजों का आचार व्यवहार चाहे जो रहा हो हमें तो आधुनिक खोज और स्वयं अपनी अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार अपने व्यवहार का नियमन करने का पूरा अधिकार है।

रामचरितमानस—अधिकांश पाठकों पर ग्रंथ विशेष का क्या असर हुआ है, वह यह देखकर ही ग्रंथ की आंतरिक परीक्षा की जाती है। किसी भी साधन से क्यों न देखा जाए रामायण की श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है। ग्रंथ को सर्वोत्तम कहने का अर्थ कदापि नहीं कि उसमें एक भी दोष नहीं है। परंतु रामचरितमानस के बारे में यह दावा अवश्य है

कि उससे लाखों मनुष्यों को शांति मिली है। ईश्वर विमुख लोग उसके पारायण से ईश्वर सम्मुख हुए हैं और आज भी होते जा रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभव जन्य ज्ञान का भंडार है।

यह बात ठीक है कि पापी अपने पाप का समर्थन करने के लिए रामचरितमानस का सहारा लेते हैं। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि लोग रामचरितमानस में से अकेले पाप का ही पाठ सीखते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि तुलसीदास जी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है। इसमें ऐसी ही अन्य बातों में तुलसीदास जी अपने युग की प्रचलित मान्यताओं से परे नहीं जा सके अर्थात तुलसीदास जी सुधारक नहीं बल्कि भक्त शिरोमणि थे। इन बातों में हम तुलसीदास जी के दोषों का नहीं, परंतु उनके युगों के दोषों का दर्शन अवश्य करते हैं।

विभीषण में तो मैं कोई दोष नहीं पाता हूँ। विभीषण ने अपने भाई के साथ सत्याग्रह किया था। विभीषण का दृष्टांत हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासक के दोषों के प्रति सहानूभूति रखना या छिपाना देशभक्ति के नाम को लजाना है। इसके विपरीत देश के दोषों का विरोध करना ही सच्ची देश—भक्ति है।

रामचरितमानस में स्त्री जाति की काफी निन्दा मिलती है परंतु इसी ग्रंथ में सीता जी के पुनीत चरित्र का परिचय भी हमें मिलता है। बिना सीता के राम कैसे? राम का यश सीता जी पर निर्भर है। सीता जी का राम पर नहीं। कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानस की पूज्यनीया पात्रा हैं। शबरी, अहिल्या की भक्ति आज भी सराहनीय है। मेरे विचार से इन सब दृष्टांतों से यही सिद्ध होता है कि तुलसीदास जी ज्ञानपूर्वक स्त्रीजाति के निन्दक नहीं थे। ज्ञानपूर्वक तो वे स्त्री जाति के पुजारी ही थे।

सीता जी के प्रति रामचन्द्र के बर्त्ताव में निर्दयता नहीं थी उसमें राज—धर्म और पति प्रेम का द्वन्द्व युद्ध था।

नैतिकता को विश्वमान्य मूल सिद्धांतों से जिसकी संगति नहीं बैठती, वह मेरे लिए शास्त्र प्रमाण नहीं है। शास्त्र उन मूल सिद्धांतों के अतिलंघन के लिए नहीं बल्कि उनकी पुष्टि के लिए बने हैं।

शास्त्र यानि पूर्वकाल में जो अनुभवीं लोग कह गए सो वचन नहीं बल्कि उस मानव के वचन हैं जिसे आज अनुभव ज्ञान अर्थात ब्रह्मज्ञान हुआ है। शास्त्र तो नित्य मूर्तिमन्त होता है। जो बात केवल पुस्तकों में है जिसका अमल ही नहीं होता वह तो तत्वज्ञान है अथवा मूर्खता या पाखंड है। शास्त्र तो तत्काल अनुभवगम्य होना चाहिए। कहने वाले के अनुभव की बात होनी चाहिए। वेद इसी अर्थ में नित्य है। दूसरा जो कुछ है वह अब वेद नहीं है, वह तो निरा वेदवाद है।

मैं विद्यार्थियों को यह सलाह दूँगा कि वे अपनी दिनचर्या गीता पाठ से शुरू करें। आप 'गीता' का छिद्रान्वेषण या आलोचना की भावना से नहीं बल्कि भक्ति और श्रद्धा से अध्ययन करे। आपका रूख जब उसके प्रति इस प्रकार होगा तो वह आपकी हर इच्छा पूरी करेगी। एक बार जब आप इस अमृत का स्वाद चख लेंगे तो इसके साथ आपका लगाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जाएगा। गीता के श्लोकों के पाठ से कठिन घड़ियों में और विपत्ति में आपको सहायता मिलेगी—काल कोठरी के अंधकार तक में सांत्वना मिलेगी और यदि आखिरी बुलावा आने पर प्राण त्यागते समय में श्लोक आपके होठों पर हो तो आपको निर्वाण और अंतिम मुक्ति प्राप्त हो जाएगी।

स्मृतियों में शूद्रों के बारे में जो श्लोक है वे मानवीयता की भावना के विरूद्ध है और इसलिए इस योग्य है कि वे बिना विचार किए रद् कर दिए जाएँ।

तुलसीकृत रामायण के पाठ से मुझे सबसे अधिक शांति मिलती है किन्तु तुलसीदास जी की भी हर बात मुझे अपील नहीं करती। गीता ऐसा विशुद्ध धर्मोपदेश है जिसमें कोई दोष नहीं है। वह तो परमात्मा की ओर जीवात्मा की यात्रा का वर्णन है। अतः उसमें चयन का प्रश्न ही नहीं उठता।

सत्य के अंतिम प्रमाण का आधार मुझे अपने हृदय से मिलता है। हर धार्मिक ग्रंथ के बारे में, गीता के बारे में भी, मैं अपना विवेक इस्तेमाल करता हूँ। धार्मिक ग्रंथ के किसी भी वचन को मैं अपने विवेक पर हावी नहीं होने दे सकता। मैं यह तो मानता हूँ कि प्रमुख धर्मग्रंथ ईश्वर प्रेरित हैं, किन्तु उसके साथ मैं यह भी जानता हूँ कि वे दो माध्यमों से छनकर आते हैं। पहले तो वे किसी मानव सन्देश वाहक के माध्यम से आते हैं और फिर व्याख्याकारों की टीकाओं से गुजरते हैं। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं जो सीधे ईश्वर से आता है। दिव्यज्ञान में विश्वास रखते हुए भी मैं अपने विवेक को तिलांजलि नहीं दे सकता। किन्तु मेरी आस्था में ऐसी चीजों में भी विश्वास है जिनमें तर्क के लिए कोई स्थान नहीं जैसे की ईश्वर की सत्ता में। कोई भी तर्क मुझे उस आस्था से नहीं डिगा सकता। मैं किसी बहुत अधिक बुद्धिमान व्यक्ति से तर्क में परास्त होकर भी बार–बार यही कहना चाहूँगा कि फिर भी ईश्वर है। 1

धर्म

धर्म संबंधी बातों में अपने को बालक नहीं खासा 35 वर्षों का तजुर्बेदार समझता हूँ। क्योंकि इतने वर्ष मैंने धर्म के विषय का विचार और मनन किया है। विशेषकर मुझे जहाँ–जहाँ सत्य दीख पड़ा वहाँ–वहाँ मैंने उसे कार्य में परिणत किया है। मेरी धारणा है कि निरे शास्त्राभ्यास से ही धर्म का स्वरूप हस्तगत नहीं हाता। हम सदा ही देखते है कि शास्त्र पठन किए बिना और नियमों के पालन के बिना मनुष्य मनमाने मार्ग से चलने लगता है। मैं ऐसे मनुष्य से शास्त्र के अर्थ न पूछूँगा जिसने लोगों सें पंडित कहाने के लिए शास्त्र पढ़े हैं। आजकल अपने को शास्त्रों के ज्ञाता कहनेवाले बहुतेरे लोग अज्ञानी और दंभी ही पाए जाते हैं।

धर्म के बिना विद्या या शिक्षा का परिणाम शून्य ही होता है।

मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि धर्म से मेरा क्या आशय है। यद्यपि मैं हिन्दू धर्म की सबसे ज्यादा कद्र करता हूँ किन्तु धर्म से मेरा अभिप्राय हिन्दू धर्म से नहीं है बल्कि उस धर्म से है जो उससे भी बढ़कर है। अर्थात वह है मूलभूत सत्य जो संसार के समस्त धर्मों का आधार स्वरूप है और वह धर्म है–सत्य के लिए, आत्माभिव्यक्ति के लिए संघर्ष। मैं इसे सत्य बल कहता हूँ । यह धर्म मनुष्य के स्वाभाव का स्थायी तत्व है और यह अपने आपको खोजने का और अपने सिरजनहार को जानने का सतत उद्योग करता रहता है इसी का नाम धर्म हैं।

धर्म और व्यवहार ये दोनों हमेशा परस्पर विरूद्ध नहीं होते। जब व्यवहार धर्म का विरोधी दिखाई दे तब वह त्याज्य है। धर्म की कसौटी भी तभी होती है जब वह व्यवहार में परिणत होता है। धर्म में मामूली कार्य कुशलता के अलावा कुछ और बातों की जरूरत होती है। क्योंकि विवेक विचार और ऐसे ही अन्य गुणों के बिना धर्म का पालन ही असंभव है। आजकल तो धन कमाने में रत सेठ साहूकार सरल चित्त से अनेक प्रकार के दान बिना विचारे ही करते रहते हैं। जो संस्थाएँ इस दान का शिकार होती है उनके व्यवस्थापक उन संस्थाओं को बिना विचारे चलाते हैं और हम उनका अनुमोदन करते हैं। इस तरह तीनो ही पक्ष अनजान में ठगे जाते हैं और समझते हैं कि वे धर्म कर रहे हैं। सच बात तो यह है कि इस प्रकार धर्म के नाम पर बहुत बार बिल्कुल अधर्म ही होता हैं। यदि तीनों पक्ष विवेकपूर्ण धर्म को समझें और उसके अनुसार चलें अथवा एक पक्ष भी ऐसा करे तो प्रत्येक संस्था शुद्ध धर्म से दमक उठे।

मैं यह बिल्कुल संभव मानता हूँ कि जनसाधारण एकाएक किसी सन्मार्ग को स्वीकार कर ले, एकाएक उसका जीवन और विचार उन्नत हो जाए। फिर जिसे हम आकस्मिकता कहते हैं वह सिर्फ देखने भर की आकस्मिकता होती है। क्योंकि कौन जानता है शिक्षा

का खमीर भीतर ही भीतर कितना असरकर चुका है? प्रबलतम शक्तियाँ तो अदृश्य ही रहती हैं यहाँ तक कि दीर्घकाल तक उनकी अनुभूति भी नहीं होती। लेकिन फिर भी वे अपनी सुनिश्चित गति से निंरतर क्रियाशील बनी रहती हैं। मेरे विचार से किसी सर्वोच्च और अदृश्य शक्ति में जीवन्त आस्था का नाम धर्म है। वह शक्ति सदा हमारी बुद्धि से परे रही और आगे भी रहने वाली है।

कुछ भी हो जब तक हम जीवित रहना चाहते हैं तब तक दूसरों को जीने में मदद करना हमारा सहज और अनिवार्य धर्म है।

विवाह करने के लिए धर्म बदले तो वह धर्म नहीं अधर्म है। धर्म ऐसी वस्तु नहीं जो वस्त्र की तरह अपनी सुविधा के लिए बदला जा सके। धर्म के लिए मनुष्य विवाह छोड़ देता है, घर–संसार छोड़ देता है, देश छोड़ देता है लेकिन किसी के लिए धर्म नहीं छोड़ा जा सकता।

धर्म आत्मा का गुण है और यह दृश्य अथवा अदृश्य रूप में मनुष्य मात्र मे विद्यमान है। धर्म के द्वारा हम मानव जीवन के कर्त्तव्य के बारे में जान सकते हैं, इसके द्वारा हम दूसरे जीवों के प्रति अपने सच्चे संबंध को जान सकते हैं और स्पष्ट है कि ये दोनों बातें तब तक संभव नहीं है जब तक हम अपने को पहचान न लें। इसीलिए धर्म वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने आपको पहचान सकते हैं।

जो मनुष्य अपने ही सुख की खोज में हिंसा करता चलता है वह धर्म को मानता ही नहीं है।

मनुष्य को अपने पूर्वजों द्वारा अपनाए गाए धर्म में आत्ममुक्ति का उपाय स्वयं खोजना चाहिए। क्योंकि सत्य की खोज करनेवाला इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सारे धर्म घुल–मिलकर ईश्वर में समा जाते हैं। उस ईश्वर में जो एक है और अपने बनाए सभी जीवधारियों के लिए समान है। यदि कोई व्यक्ति इस बात को ध्यान में रखकर प्राचीन धर्मो की नवीन व्याख्या करने की स्वतंत्रता ले तो उसमें लगभग कोई खतरा नहीं बचता और न किसी प्रकार की हानि ही होती है।

धर्म का तात्पर्य संकुचित संप्रदाय या केवल बाह्याचार नहीं है। धर्म का व्यापक अर्थ है–ईश्वरत्व के विषय मे हमारी अटल श्रद्धा, पुनर्जन्म में अविचलित श्रद्धा, सत्य और अहिंसा में हमारी पूर्ण श्रद्धा। आज जो पुस्तकों और निबंधों में धर्म की चर्चा ही भरी होती है किन्तु आज धर्म के नाम पर अधर्म चलता है, पशुबलि चलती है।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं पर मनुष्य कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा प्रचारित होने के कारण अपूर्ण हैं। इसलिए हमें सब धर्मो को प्रति समभाव रखना चाहिए।

मेरे धार्मिक सिद्धांत का मतलब यह है कि मुझे (सृष्टि में जो जीवन तत्व नाना रूपो में प्रगट हो रहा है) उस संपूर्ण जीवन से जो कुछ भी है उस सबसे अपनी एकता साधनी है और ईश्वर की उपस्थिति में विराट जीवन के उस वैभव का हिस्सेदार बनना है। अपनी समग्रता में यह जीवन ही ईश्वर है।

जो धर्म की रीति से चलते हैं, वे पहले उनका ध्यान रखें, जिन्हें पराया माना जाता है। जो अपने हैं, उनकी सँभाल तो होगी ही, किन्तु यदि परायों को पहले देखने की आदत डाल लें तो अन्ततक पूरा सामंजस्य बैठ जाना संभव है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड–पिण्ड का मतलब यह देह है और ब्रह्माण्ड का अर्थ है यह पृथ्वी। अब जो कुछ हमारे शरीर में है वह सब पृथ्वी में है और जो शरीर में नहीं वह पृथ्वी मे भी नहीं। शरीर मिट्‌टी का बना है तो पृथ्वी भी मिट्‌टी की बनी है। पृथ्वी में पाँच तत्व हैं तो शरीर में भी पाँच तत्व हैं। पृथ्वी में तरह–तरह के जीव हैं तो शरीर में भी हैं। यदि हमें शरीर का सच्चा ज्ञान हो जाए तो पृथ्वी का भी हो जाए, इसलिए ज्ञानी हमे सिखा गए हैं जो पिण्ड में है वहीं ब्रह्माण्ड में हैं।

गुंडेबाजी से अथवा पाखंड से, वाक–चातुर्य से अथवा ललित लेखों से धर्म की रक्षा न तो कभी हुई है और न होगी। धर्म रक्षा तो धार्मिक व्यक्तियों की आत्मशुद्धि और तपश्चर्या से ही हो सकती है।

धर्म आन्तरिक समझ का विषय है। धर्म हृदय की, श्रद्धा की, सनातन मूल्यों के स्वीकार की बात है। शरीर के रूप में हमारा कोई

सनातन मूल्य नहीं है। ईश्वर कहता है कि नाम, रूप धारी हरेक वस्तु का नाश है। सूर्य भी सनातन नहीं है, विज्ञान भी इस बात की गवाही देता है।

धर्म उसे कहते हैं जो आत्मा को ऊँचे ले जाता है। ईश्वर सत्य का नाम है। सत्यरूप है ऐसी कल्पना करें।

मेरे लिए सदाचार, नैतिक नियम और धर्म एक ही बात है। आदमी पूरी तरह सदाचारी हो, लेकिन धार्मिक न हो, तो उसका जीवन बालू पर खड़ी की गई इमारत की तरह समझिए, इसी तरह सदाचार हीन धर्म भी दूसरों को दिखाने भर होता है। सदाचार में सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य तीनो होता है।

धर्म का आधार विद्वता नहीं वरन सन्तों और ऋृषियों के अनुभव उनके जीवन और उपदेश होते है, इसीलिए किसी धर्म की अच्छाई बुराई का निर्णय सिर्फ उसके सबसे बुरे नमूनों से नहीं, बल्कि उसके सर्वोत्तम नमूनों से ही किया जा सकता है। क्योंकि उस धर्म के सर्वोत्तम नमूनों को ही ऐसा आदर्श माना जा सकता है। जिससे आगे न जा सकें, तो उसतक पहुँचने की आकांक्षा तो करनी ही चाहिए।

अनुभवों पर आधारित मेरा यह मत है कि आध्यात्मिक मामलों में पैसे का कोई महत्व नहीं है।

जीवन स्वयं में अपनी अभिव्यक्ति है। गुलाब अपने चारो ओर जो सुगंध विखेरता है और सभी आँखों वालो के लिए जो सौन्दर्य उद्भासित करता है, उनके बारे में उसे कोई पुस्तक लिखने या प्रवचन देने की आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक जीवन तो सुन्दर, सुगंधित गुलाब से कहीं अधिक श्रेष्ठ है और मैं साहसपूर्वक कहता हूँ कि जीवन में जिस क्षण भी आध्यात्मिक सत्य अभिव्यक्त होने लगेगा, आसपास का समस्त वातावरण उसी क्षण उससे प्रभावित होकर अनूकुल प्रतिक्रिया करने लगेगा।

आध्यात्मिक जीवन मारकोनी की बेतार की तरंगों से कहीं अधिक क्षमताशील होता है। मेरे प्रभु और मेरे बीच कोई माध्यम न होने पर भी मैं उनके प्रभावों को अपने अदंर ग्रहण करने के लिए एक खुला पात्र बन जाता हूँ और फिर गंगोत्री पर गंगा के जल की भाँति मैं फूट निकलता हूँ। व्यक्ति जब सत्य को जीता है, तब उसकी बोलने की, शाब्दिक अभिव्यक्ति की इच्छा नहीं होती। सत्य कम से कम शब्दो की अपेक्षा रखता है। इसलिए जीवन से अधिक सच्चा या दूसरा कोई धर्म–प्रचार का रास्ता है ही नहीं।

धर्म की जितनी क्षति इस धर्म परिवर्त्तन जैसे घातक वस्तु से हुई है उतनी आज तक किसी बात से नहीं हुई है।

धर्मानुसार मेरे जगन्नाथ के पास ऊँच–नीच का भाव नहीं हो सकता। वे ब्राह्मण, क्षत्रियों के नाथ भले ही हों जगत के नाथ नहीं हो सकते। जब तक पुरी मंदिर का द्वार हरिजनों के लिए बंद है मेरे लिए भी बंद है।

धर्म को शनिवार या रविवार की फुर्सत के समय की चीज समझ लिया गया है। धर्म तो जीवन के हर क्षण आचरण में होना चाहिए। जब ऐसा धर्म स्थापित होगा तभी दुनियाँ में धर्म प्रभावशाली होगा।

धर्म तो मनुष्य का जीवन है और जिस प्रकार वह किसी भी धमकी या मजबूरी से डर कर साँस लेने का अधिकार नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार उसे अपना धर्म भी नहीं त्यागना चाहिए, चाहे उसकी खातिर जान भी क्यों न देनी पड़े। कोई भी स्त्री या पुरूष यदि किसी दूसरे के हुक्म पर अपना धर्म त्याग दे तो इसका अर्थ हुआ कि उसका कोई धर्म ही नहीं था। धर्म तो मनुष्य का साँस प्राण है। यदि कोई मनुष्य धमकी से डरकर अपना धर्म छोड़ देता है तो वह मात्र पशु रह जाता है।

कायर स्त्री या पुरूष किसी भी धर्म पर बोझ के समान हैं। भय के कारण आज मुसलमान बन जाते हैं कल ईसाई बन जाएँगे। बल प्रयोग के भय से अपना धर्म बदल लेना धर्म नहीं कायरता है।

मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि खुदा के डर को छोड़कर और कोई डर नहीं रखना चाहिए। अगर मैं ऐसा डर रखूँ तो वह खुदा के फरमान को तोड़ना होगा। तब फिर दुख का डर क्यों मानूँ?

मैं हमेशा से यह कहता आया हूँ कि मेरे जीवन मे धर्म का स्थान प्रमुख है और राजनीति उसकी अनुवर्तनी है। मेरे राजनैतिक क्षेत्र में आने का कारण हुआ कि मैं अपने धार्मिक जीवन अर्थात् सेवामय जीवन को उससे प्रभावित हुए बिना व्यतीत न कर सका। यदि उससे मेरे धार्मिक जीवन में बाधा पड़े तो मैं उसे आज ही त्याग दूँ।

स्त्री धर्म (रजस्वला) होने के पहले ही शास्त्रों में विवाह का आदेश है यदि बाद में करने से धर्म संकट पैदा होता है के जबाब में—मुझे तो यह धर्म संकट नहीं जान पड़ता। शास्त्रों के नाम से प्रसिद्ध पुस्तको में जो कुछ लिखा है वह सच ही है और उसमें कुछ भी परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता, ऐसा कहने या मानने वाला मनुष्य के समक्ष तो पल—पल धर्म संकट उपस्थित होता रहेगा। एक ही श्लोक के अनेकार्थ होते हैं और वे भी परस्पर विरूद्ध तक। इसके अतिरिक्त शास्त्र में कुछ सिद्धान्त अटल होते हैं और कुछ ऐसे जो विशेष काल और क्षेत्र आदि का विचार करके बनाए जाते हैं और उसी हद तक लागू किए जा सकते है ? उत्तर ध्रुव में जहाँ छः महीने तक सूर्य अस्त नहीं होता, अगर कोई रह सके तो उसे संध्या किस समय करनी चाहिए। उसे स्नानदि के संबंध मे क्या करना चाहिए? मनुस्मृति में खाद्याखाद्य के अनेक नियमों का विधान किया गया है। इस समय इनमें से एक का भी पालन नहीं किया जाता। उसके सभी श्लोक एक ही मनुष्य द्वारा अथवा एक ही समय में रचे गए हों, वह बात भी नहीं है। इसलिए जो मनुष्य ईश्वर से डरकर चलना चाहता है और नीति संबंधी नियमो को भी भंग करना नहीं चाहता, उसके सम्मुख तो एक ही मार्ग है कि जो बात नीति विरूद्ध दिखाई दे उसको त्याग ही दे। स्वेच्छाचार कमी धर्म नहीं हो सकता। हिन्दू धर्म में संयम की कोई सीमा नहीं बाँधी गई है। जिस बाला को वैराग्य हो गया है वह क्या करें ? स्त्रीधर्म को प्राप्त होने का अर्थ क्या है? जो अवस्था स्त्री जाति के लिए सामान्य है उसको प्राप्त होने पर लड़की का विवाह किया ही जाना चाहिए ऐसा आग्रह कैसे किया जा सकता है? स्त्री धर्म को प्राप्त होने पर ही विवाह किए जाने की मर्यादा तो

समझ में आती है। हम शास्त्रों के अर्थ के पचड़े में पड़कर कदापि अत्याचार नहीं कर सकते। जो हमें मोक्ष की ओर प्रवर्तित करे, वे ही शास्त्र हैं, जो हमें संयम की शिक्षा दे। वही असली धर्म है। जो मनुष्य बाप—दादा के कुएँ मे डूब मरता है, वह मूर्ख ही माना जाएगा। अखा भगत ने शास्त्रों को अँधेरा कुआँ माना है। ज्ञानेश्वर ने वेदों को संकुचित बताया है। नरसिंह मेहता ने अनुभव को ही ज्ञान माना है।

अगर हमें आगे बढ़ना है तो हमें इतिहास की पुनरावृति नहीं करना चाहिए, बल्कि नए इतिहास का निर्माण करना चाहिए। अगर हम भौतिक जगत में नए—नए आविष्कार और नई—नई खोजें कर सकते हैं, तो क्या आध्यात्मिक जगत में अपनी असमर्थता की घोषणा करना ठीक है?

जिस प्रकार मनुष्य सुख की खोज करता हुआ धर्म भावना के कारण कष्ट सहन करता है और मृत्यु आए तो उसका भी आलिंगन करता है। यह अंधश्रद्धा है। अंधश्रद्धा सुख की खोज करती हुई दुख सहन करने के लिए तैयार रहती है। सात्विक श्रद्धा दुख सहन करने में सुख मानती है।

धर्म के सर्वव्यापक होने की शक्ति होनी चाहिए। धर्म जगत के शतांश का इजारा नहीं हो सकता, होना भी नहीं चाहिए। मेरा दृढ़ विश्वास है कि सत्य और अहिंसा, ये जगद्व्यापी धर्म है। इसी से तो उसके अर्थ की खोज में जीवन खपाते हुए भी मैं इस रस को लूट रहा हूँ और दूसरों को भी रस लूटने का आमंत्रण दे रहा हूँ।

एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के धर्म परिवर्तन करने को मैं उचित नहीं मानता। मेरी कोशिश किसी दूसरे के धार्मिक विश्वास को हिलाने की या उनका नींव खोदने की नहीं, बल्कि उसे अपने धर्म का एक अच्छा अनुयायी बनाने की होनी चाहिए। इसका तात्पर्य है कि सभी धर्मों की सच्चाई में विश्वास और इस कारण उन सबके प्रति आदर का भाव होना इसका यह भी मतलब है कि हममें सच्ची विनयशीलता होनी चाहिए।

माता–पिता स्वार्थवश होकर सलाह दें, तो उसका विनयपूर्वक अनादर किया जा सकता है। अपनी अनिवार्य जरूरतों के सिवा अगर माता–पिता पुत्र से विशेष आशा रखें तो पुत्र का धर्म हो सकता है कि उसका विरोध करें। मसलन माता–पिता विवाह में अनुचित खर्च करना चाहते हों तो पुत्र को इस इच्छा की पूर्ति करना धर्म नहीं है।

अगर माता–पिता पुत्र से भी अधर्माचरण कराना चाहें तो उसे कदापि न करना धर्म है।

धर्म को भी छोड़ देने का विचार किसी के दिल में कैसे आ सकता है ? कायरता की भी हद हो गई। जिसे धर्म का थोड़ा भी भान है, वह धर्म को छोड़ ही नहीं सकता। धर्म वस्त्र के समान पहना या उतारा नहीं जा सकता। धर्म देह से भी ज्यादा बेशकीमती है। देह आवागमन से बद्ध है, धर्म आत्मा के साथ जुड़ी वस्तु है, धर्म साफ–साफ यह सिखाता है कि वह कभी बदला नहीं जा सकता। धर्म में जो गंदगी, जो सड़न पैदा हो गई, वह दूर हो सकती है, पर धर्म का उच्छेद नहीं हो सकता। जिस धर्म में वेद, उपनिषद, पुराण इत्यादि लिखे गए हैं, जिसमें असंख्य मनुष्यों ने मरणांत तपश्चर्या की है, जिस धर्म के मनुष्यों की हड्डियों से हिमाचल उज्जवल बना है, जिनके खून की खाद से हिमालय के वृक्ष और पुष्प फूले हैं, उस धर्म का त्याग क्योंकर हो सकता है? इस धर्म के सुधारकों ने ही रूढ़ि रूपी वृक्ष का नाश करके धर्म को तेजोमय बना रखा है। बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज, कबीर नानक, चैतन्य, राममोहन, रामकृष्ण, दयानंद, विवेकानंद वगैरह ने रूढ़ि का विरोध करके हमें रास्ता बताया है। इन सबने धर्म छोड़ा नहीं था, उल्टे धर्म को सुगंधित रखकर बुरी रूढ़ियों को तोड़ा और धर्म की रक्षा की थी।

हमारा धर्म दूसरों की आलोचना में समय खोना नहीं है, यह तो हिंसा है। हमारा धर्म तो स्वयं जागृत होने का है।

महान वस्तुओं का दुरूपयोग अनादि काल से होता आया है और होता रहेगा। इसलिए उनका त्याग नहीं किया जा सकता। धर्म के नाम पर जितना ढोंग इस दुनिया में हुआ है उतना और किसी चीज का नहीं हुआ होगा। फिर भी यदि धर्म को छोड़ दें तो जगत का नाश हो जाए।

मैं इतनी प्रतिज्ञा अवश्य करूँगा कि हिन्दूधर्म का अथवा किसी धर्म का नाश किसी के आक्रमण से कभी नहीं हो सकता। यह स्वयंसिद्ध नियम है। जिसका नाश कोई भी बाह्य शक्ति से हो सकता है वह धर्म नहीं। वह भले ही सामाजिक व्यवहार हो। धर्म का नाश उसके भीतर कुछ गंदगी पैदा होने से हो सकता है। अस्पृश्यता हिन्दू धर्म में एक ऐसी गंदगी है। उसका नाश न करें तो धर्म का नाश निश्चित है। अस्पृश्यता महा असत्य है। इसका निवारण स्पर्श से है। इसमें घृणा भरा है, अहंकार है, उच्च नीच भाव है। यह सब अधर्म है, असत्य है। मुझे ज्ञान है कि असत्य का समर्थन सत्य से नहीं हो सकता।

मैं किसी के अन्तःकरण की खबर रखने वाला तो हूँ नहीं किन्तु मैं जरूर यह महसूस करता हूँ कि जो मनुष्य यह कहता है कि जिस धर्म में उसने जन्म लिया है उस धर्म में उसे शांति नहीं मिल रही है तो उस मनुष्य के अंदर ही कोई कमजोरी है।

अगर कोई बाइबिल में विश्वास करना चाहता है तो करे लेकिन वह अपना धर्म क्यों बदले? धर्म प्रचार की इस प्रवृति से संसार में शांति नहीं कायम होगी। धर्म बहुत ही निजी मामला है। हमें तो अपनी–अपनी समझ के अनुसार जैसा ठीक लगे वैसा जीवन जीते हुए एक दूसरे के धर्मों की अच्छाइयों का परस्पर आदान–प्रदान करना चाहिए और इस प्रकार ईश्वर के निकट पहुँचने के मनुष्य के प्रयत्न में अपनी–अपनी सामर्थ्य भर योग देना चाहिए। 1

हिन्दूधर्म

हिन्दूधर्म धर्मान्तरण की नीति मे विश्वास नहीं करता इसलिए वह सबसे ज्यादा सहिष्णु है। उसने बौद्धधर्म को खदेड़कर भारत से बाहर नहीं किया बल्कि उसे आत्मसात कर लिया।

हिन्दूधर्म इतना महान और व्यापक है कि आजतक कोई इसकी व्याख्या करने में कृतकाय नहीं हो सका। मेरा जन्म वैष्णव संप्रदाय में हुआ और इसके सिद्धांत मुझे बहुत ही प्रिय है। वैष्णव धर्म अथवा हिन्दूधर्म में मुझे कहीं यह विधान नहीं मिला कि भंगी, डोम आदि जाति अस्पृश्य है। हिन्दूधर्म अनेक रूढ़ियों से घिरा हुआ है। इनमें से कछ रूढ़ियाँ प्रंशसनीय हैं, शेष निन्द्य है। अस्पृश्यता की रूढ़ि तो सर्वथा निन्द्य है। इसकी बदौलत दो हजार वर्षों से धर्म के नाम पर पाप की राशि हिन्दूधर्म पर लादी जाती रही है और अब भी लादी जाती है। मैं इस रूढ़ि को पाखण्ड कहता हूँ इस पाखंड से आपको मुक्त होना पड़ेगा। इस रूढ़ि के समर्थन में मनुस्मृति आदि धर्म ग्रंथो के श्लोक उद्धृत करने से कोई लाभ नहीं। इन ग्रंथो मे कितने ही प्रक्षिप्त श्लोक है। कितने ही श्लोक नितांत अर्थ हीन है। फिर मनुस्मृति की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने वाला या पालन की इच्छा रखने वाला एक भी हिन्दू मेरे देखने में नहीं आया।

ईसाई लेखकों के आक्षेप हिन्दू धर्म का मूलोच्छेद करने के उद्देश्य से किए गए हैं। मैं अपने आपको पक्का हिन्दू मानता हूँ और मैंने इस आशय से आक्षेप लगाया है कि हिन्दू धर्म में जो न्यूनता है, वह दूर हो जाए और उसे अपना वास्तविक भव्य स्थान प्राप्त हो जाए। ईसाई आलोचक हमारी स्मृतियों की अपूर्णता बताकर उनको सामान्य ग्रन्थ सिद्ध करना चाहते हैं। मैं यह बताने का प्रयत्न करता हूँ कि स्मृतियों की अपूर्णता का कारण हमारे अधःपतन काल में मान्यता प्राप्त स्मृतिकारो द्वारा अपने–अपने श्लोकों का जोड़ा जाना है। इन श्लोकों को

निकालकर शेष स्मृतियों की अपूर्णता सिद्ध की जा सकती है। मिथ्याभिमान या अज्ञान से स्मृतियों में और हिन्दूधर्म के अन्य सभी ग्रंथों में कोई भी दोष नहीं, ऐसा मानकर और दूसरों से ऐसा मनवाकर मैं हिन्दूधर्म का लंगड़ा बचाव कदापि नहीं करना चाहता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करने से हिन्दूधर्म की उन्नति नहीं होती, बल्कि अवनति ही होती है। जिस धर्म में सत्य को उत्कृष्ट स्थान दिया गया है उसमें असत्य का समर्थन कदापि नहीं हो सकता।

मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहा हूँ कि :

1. मैं वेदों, उपनिषदों और हिन्दूधर्म ग्रंथों के नाम से प्रचलित सारे साहित्य में विश्वास रखता हूँ और इसलिए अवतारों और पुनर्जन्म में भी।

2. मैं वर्णाश्रम धर्म के उस रूप में विश्वास रखता हूँ, जो मेरे विचार से विशुद्ध वैदिक हैं, लेकिन उसके आजकल के लोक प्रचलित और स्थूल रूप में मेरा विश्वास नहीं है।

3. मैं गौ–रक्षा में उसके लोक प्रचलित रूप से कहीं अधिक व्यापक रूप में विश्वास करता हूँ ।

4. मैं मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता।

सच्चे हिन्दू की पहचान तिलक नहीं है, मंत्रों का सही उच्चारण नहीं है, तीर्थाटन नहीं है और न जात–पात के नियमों और बंधनो का सूक्ष्म पालन ही। उसकी पहचान तो उसकी गो–रक्षा की क्षमता है । गौ–रक्षा के धर्म को स्वीकार करते हुए भी हमने गौओं और उसकी संतानो को दासत्व की स्थिति में पहुँचा दिया है। गो–रक्षा का तरीका है उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देना। किन्तु गाय की रक्षा के लिए मनुष्य की हत्या करना हिन्दूधर्म और अहिंसा धर्म से विमुख होना है।

हिन्दू धर्म के साथ मुझे एक अटूट बंधन का अनुभव होता है, भले ही उसमे जो दोष हों, उसकी जो सीमाएँ हों। हिन्दू धर्म की दो ही पुस्तकें है, जिन्हें जानने का दावा मैं कर सकता हूँ। वे है गीता और

तुलसीकृत रामायण। इन दोनों का संगीत मेरे मन को जितना आह्लादित करता है उतनी और कोई चीज नहीं करती। एक बार जब मुझे लगा कि मेरी अंतिम घड़ी आ पहुँची है तब मुझे गीता से ही सांत्वना प्राप्त हुई थी। आजकल हिन्दुओं के बड़े–बड़े मंदिरो में जो बुराई चल रही है, उसे मैं जानता हूँ। उनमें ऐसे दोष हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर भी मुझे उनसे प्रेम है। उनमें से एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता हूँ–ऐसा आर्कषण का अनुभव मैं और किसी चीज के प्रति नहीं करता ।

मैं आदि से अंत तक एक सुधारक हूँ लेकिन ऐसा नहीं है कि उत्साहातिरेक में हिन्दू धर्म की असली चीजों को भी छोड़ दूँ।

हिन्दूधर्म सभी लोगों को अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है और इसलिए उसका किसी भी धर्म से कोई झगड़ा नहीं है। हिन्दूधर्म कोई वर्जनशील धर्म नहीं है। उसमें दुनियाँ के सभी नबियों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है। वह साधारण अर्थों में प्रचार का ध्येय रखने वाला धर्म नहीं है।

मैं मानता हूँ कि किसी को अपने आपको ऊँचा मानने और किसी दूसरे को नीचा मानने की धृष्टता करना हिन्दुत्व की सहज प्रकृति के विरूद्ध है।

अगर हिन्दूधर्म क्या और किसके साथ खाना चाहिए उसी से संबंधित नियमों के विस्तृत जाल मे फँस गया तो वह अपना मूलतत्व खो बैठेगा।

यदि मुझसे हिन्दूधर्म की व्याख्या करने के लिए कहा जाए तो मैं इतना ही कहूँगा कि अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य की खोज है। कोई मनुष्य ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी अपने आपको हिन्दू कह सकता है। सत्य की अथक खोज का ही दूसरा नाम हिन्दू धर्म है। यदि आज वह मृतप्राय निष्क्रिय अथवा विकासशील नहीं रह गया है तो इसलिए कि हम थककर बैठ गए हैं और ज्योंही यह थकावट दूर हो जाएगी, त्योंही हिन्दू धर्म संसार पर ऐसे प्रखर तेज के साथ

छा जाएगा, जैसा कदाचित पहले कभी नहीं हुआ। निश्चित रूप से हिन्दूधर्म सबसे अधिक सहिष्णु धर्म है।

यदि आपका यह विश्वास हो कि आप हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता के गँदले गड्ढे में रखकर उसकी रक्षा करेंगे, तो वह व्यर्थ है। आपके ये तिलक–कंठी ये मंदिर सब मिथ्या हैं, जब तक आपका हृदय मानव मात्र के प्रति प्रेमसिक्त न हो–

क्या भारत के कुछ भाग में मानव–भक्षण और सती–प्रथा नहीं थी ? क्या आप सोचते हैं कि यदि वे प्रथायें कायम रहती तो हिन्दूधर्म उनको सहन कर सकता था? उन्हें तो मिटना ही था। विचारशील लोगों ने इन भयावह प्रथाओं के विरूद्ध विद्रोह किया और अब अस्पृश्यता की भयावहता के विरूद्ध सभी स्थानो पर लोगों की चेतना पागल हो गई है। इसलिए यह भी निश्चित रूप से मिट जाएगी। हममें से प्रत्येक में यह चेतना जागृत होती जा रही है कि हिन्दूधर्म आज कसौटी पर है और यदि उसे खरा उतरना है तो यह जरूरी है वह अपने आपको इस अभिशाप से मुक्त कर ले।

मेरा हिन्दूधर्म मुझे सिखाता है कि यदि मेरा हृदय शुद्ध है तो मैं चाहे श्रीराम की जगह मरा ही क्यो न कहूँ फिर भी मैं उतने ही बल से या उससे अधिक बल से रट सकता हूँ जितने बल से शिक्षित ब्राह्मण रटते हैं।

यद्यपि मैं ईसाई धर्म की बहुत बातों की सराहना करता हूँ फिर भी मैं रूढ़िगत इसाई धर्म से अपना तादात्मय स्थापित करने में असमर्थ हूँ। मुझे आपसे पूरी नम्रता के साथ कहना होगा कि मैंने हिन्दूधर्म को जिस रूप में जाना है, वह उस रूप में मेरी आत्मा को पूरी शांति देता है, उसमें मेरा समस्त अस्तित्व आप्लावित है और जो शांति मुझे भगवद्गीता और उपनिषदों से मिलती है, वह गिरि प्रवचनों को पढ़कर नहीं मिलती। यह बात नहीं कि उसमें बताए आदर्श और मूल्य को नहीं समझता, उनके मूल्यवान उपदेशों की छाप भी मुझ पर पड़ी है। किन्तु आपके सामने स्वीकार करना चाहिए कि जब

मेरा मन शंकाओं और निराशाओं से घिर जाता है और जहाँ तक दृष्टि जाती है मुझे प्रकाश की एक किरण भी नहीं दिखाई देती तब मैं भगवदगीता की शरण लेता हूँ और उसमें मुझे कोई न कोई शांतिदायी श्लोक मिल ही जाता है तब दारूण दुख के बीच में भी मैं तत्काल मुस्कुरा उठता हूँ।

मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूँ कि मैं वेदों, उपनिषदो और पुराणों और संत सुधारकों की कृतियों में विश्वास रखता हूँ। इस विश्वास के लिए मुझे हर एक वस्तु को जो शास्त्र के नाम से अभिहित हो, आप्त वचन मानने की जरूरत नहीं है। नीति के मूल सिद्धान्तों का जिनसे विरोध होता है मैं उन सभी बातों का विरोध करता हूँ। मेरे लिए पंडितों की सभी व्यवस्थाओं या व्याख्याओं को मानना आवश्यक नहीं है।

स्थूल रूप से हिन्दू वह है, जो ईश्वर में विश्वास करता है, आत्मा की अनश्वरता, पुर्नजन्म, कर्म सिद्धान्त और मोक्ष में विश्वास करता है और जो अपने दैनिक जीवन में सत्य और अहिंसा का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है।

मैं वंशानुगत गुणों के प्रभाव पर विश्वास करता हूँ, मेरा जन्म एक हिन्दू परिवार में हुआ है, इसलिए मैं हिन्दू हूँ। अगर मुझे यह अपने नैतिक बोध या आध्यात्मिक विकास के विरूद्ध लगे तो मैं इसे छोड़ देता किन्तु अध्ययन करने पर जिन धर्मों को मैं जानता हूँ, उनमें मैनें इसे सबसे अधिक सहिष्णु पाया है। इनमें सैद्धान्तिक कट्टरता नहीं है, यह बात मुझे आकर्षित करती है। क्योंकि इस कारण इसके अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति का अधिक से अधिक अवसर मिलता है। हिन्दूधर्म वर्जनशील नहीं है। अतः इसके अनुयायी न सिर्फ दूसरे धर्मों का आदर कर पाते हैं, बल्कि वे सभी धर्मो की अच्छी बातों को पसंद कर सकते हैं और अपना सकते हैं। अहिंसा सभी धर्मों में है मगर हिन्दूधर्म में इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति और प्रयोग हुआ है। (मैं जैन और बोद्ध धर्म को हिन्दू धर्म से अलग नहीं

गिनता) हिन्दू धर्म सभी मनुष्यों की एकात्मकता में विश्वास करता है। मेरी राय में हिन्दूधर्म में गाय की पूजा मानवीयता के विकास की दिशा में उसका एक अनोखा योगदान है। सभी जीवों की एकात्मकता और इसीलिए सभी प्रकार के जीवन की पवित्रता इसके विश्वास का यह व्यावहारिक रूप है। भिन्न योनियों में जन्म लेने का महान विश्वास इसी विश्वास का सीधा नतीजा है।

अपने को सनातनी कहने वाले लोगों ने मुझे कुछ पत्र भेजे हैं। इनमें से कुछ रोष भरे हैं। उनके विचार से अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का सार है। उनमें से कुछ ने अस्पृश्यता के समर्थन में शास्त्रों के उद्धरण भी दिए हैं।

मैं खुद भी सनातनी होने का दावा करता हूँ। मेरे विचार से सनातन धर्म वह जीवन्त धर्म है जो पीढ़ी दर पीढ़ी बल्कि प्रगैतिहासिक काल से ही विरासत में मिला है और वेदो और उसके बाद के धर्म ग्रंथो पर आधारित है। मेरे विचार से वेद ईश्वर और हिन्दूधर्म की तरह ही अव्यवहार्य है। छपे हुए चार ग्रंथो को ही वेद कहना अर्धसत्य होगा। ये ग्रंथ अज्ञात ऋृषियों के प्रवचनों के केवल अवशेष हैं। बाद में ऋृषियों ने इन मूल निधियों में अपने ज्ञान के अनुसार वृद्धि की। फिर एक महान मनीषी हुआ जिसने गीता रची। उसने हिन्दू जगत को, हिन्दू धर्म का एक ऐसा सार संकलन किया जिसमें गहरा दर्शन भरा है पर जो फिर भी सीधे–सादे जिज्ञासुओ की समझ में आसानी से आ जाता है। यदि अन्य सभी धर्मग्रंथ जलकर भस्म हो तो भी इस अमर गुटके के सात सौ श्लोक यह बताने के लिए काफी हैं कि हिन्दू धर्म क्या है और उसे जीवन में कैसे उतारा जा सकता है? मैं अपने को सनातनी इसलिए मानता हूँ कि पिछले चालीस वर्षों से शब्दशः इस ग्रंथ की शिक्षाओं के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की कोशिश कर रहा हूँ। जो कुछ भी उसके मुख्य विषय के विरूद्ध है उसे मैं हिन्दू धर्म के विरूद्ध समझकर अस्वीकार कर देता हूँ। किसी भी धर्म या धर्मगुरू का बहिष्कार यही है। मुझे यह कहते हुए अत्यन्त

आनन्द का अनुभव हो रहा है कि मैंने बाइबिल, कुरान, जेन्द, अवेस्ता और संसार के अन्य धर्मग्रंथों का उसी श्रद्धा से अध्ययन किया है, जितना कि गीता का किया है। इस श्रद्धायुक्त अध्ययन से गीता में मेरी आस्था और भी दृढ़ हुई है। इससे मेरा दृष्टिकोण और इसलिए मेरा हिन्दूधर्म भी उदार हो गया। अपने आपको हिन्दू कहने में मुझे गर्व का अनुभव इसलिए होता है कि यह शब्द मुझे इतना व्यापक लगता है कि यह न केवल पृथ्वी को चारों कोनों के पैगम्बरों की शिक्षाओं के प्रति सहिष्णु है, बल्कि उन्हें आत्मसात भी करता है। इस जीवन संहिता में मुझे अस्पृश्यता का कोई समर्थन नही मिलता। इसके विपरीत यह चुम्बक सी शक्तिशाली वाणी से मेरी बुद्धि को और उससे भी गहरे मेरे हृदय को छूकर मुझे यह मानने को बाध्य करती है कि जितना भी जीवन है, वह सब एक है और वह ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और उसी में विलीन हो जाना है।

सारे संसार में अस्पृश्यता जैसी चीज और कोई नहीं। फिर भी मैं धर्म को हिन्दुत्व को नहीं छोड़ सकता। हिन्दूधर्म से यदि मैं निराश हो जाऊँ तो मेरे पास क्या रह जाता है? लेकिन मैं इसे छुआछूत और ऊँच–नीच की मान्यता के साथ सहन नहीं कर सकता।

हिन्दूधर्म में एक बड़ी बात यह है कि उसकी सच्ची आस्था है कि समस्त जीव एक ही है। अर्थात सारे जीवों की उत्पत्ति एक ही स्रोत, से हुई है—चाहे आप उसे किसी नाम से पुकारे। विष्णु सहस्रनाम जिसका अर्थ इतना ही है—ईश्वर के एक सहस्र नाम। इन एक सहस्र नामों का यह अर्थ नहीं कि ईश्वर इन नामों तक ही सीमित है। इसका अर्थ है कि ईश्वर के उतने नाम हैं जितने कि आप सोच सकते हैं। आप उसे जितने चाहें उतने नाम दे सकते हैं बशर्तें कि आप जिसे विभिन्न नामों से याद कर रहे हैं, वह ईश्वर आपके मन में एक ही हो। इसका अर्थ यह भी है कि ईश्वर अनाम नाम रहित है।

भगवान से ही सभी जीवों की उत्पत्ति तो हरिजन हेय कैसे ? गंगोत्री से गंगा अपवित्र कैसे? जीव की यह एकता हिन्दू धर्म की

विशेषता है। इसके अनुसार मुक्ति प्राप्त करना मानव तक ही सीमित नहीं है, बल्कि ईश्वर के रचे सभी प्राणियों के लिए संभव है। हो सकता है मानव देह धारण किए बिना मुक्ति प्राप्त करना संभव न हो लेकिन इससे मनुष्य जगत का स्वामी नहीं हो जाता। इस मान्यता के अनुसार मनुष्य सृष्टि का सेवक है। जीव मात्र के साथ यह एकात्मकता अनुभव करने के लिए मनुष्य जितना भी त्याग करें, थोड़ा होगा। लेकिन यह आदर्श इतना विराट है कि यह निश्चय ही आपकी आवश्यकताओं को मर्यादित कर देता है।

यदि सारे उपनिषद तथा हमारे अन्य सारे धर्म ग्रंथ अचानक नष्ट हो जाएँ और यदि इशोपनिषद का यह पहला श्लोक–

"ईशा वास्यम् इदम सर्वम
यत किंच जगत्यां जगत
तेन त्येक्तेन मुंजीथा (:)
माँ गृध कस्यस्विद धनम्"

हिन्दुओं की स्मृति में कायम रहे तो भी हिन्दू धर्म सदा जीवित रहेगा। गीता भी इसी मंत्र का भाष्य है।

स्मृतियों और पुराणों का सृजन युगो की माँग पर हुआ है और इसमें सदा शाश्वत सत्यों का प्रतिपादन नहीं हुआ है। किन्तु ईशोपनिषद के इस मंत्र में सत्यों का ही प्रतिपादन हुआ है। इसका अर्थ है कि सच्चे अर्थों में तथा विचार और विवेकपूर्ण हिन्दू होने के लिए हमें संपूर्ण उपनिषदो और संपूर्ण हिन्दूधर्म के इस मूल मंत्र के अनुसार आचरण करना ही है और यह आचरण यह है कि हम सब कुछ अपने शरीर और प्रिय से प्रिय वस्तु का त्याग करके उसे प्रभु के चरणों में रख दें।

सनातनी कौन है ? सत्य, आत्मसंयम, तप, शौच, संतोष, नम्रता, क्षमा,सरलता, ज्ञान, शांति, दया, ध्यान, मन वचन और कर्म में भूतमात्र के प्रति अद्रोह, अनुग्रह और दान यह सज्जनों का सनातन धर्म है। मैं यथाशक्ति इन नियमों का अनुसरण करने की कोशिश कर रहा हूँ।

हिन्दूधर्म अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य की खोज है। सत्य की अथक खोज का ही दूसरा नाम हिन्दूधर्म है। यदि आज वह मृतप्राय निष्क्रिय अथवा विकासशील नहीं रह गया है तो इसलिए कि हम थककर बैठ गए हैं ज्योंही यह थकावट दूर होगी त्योंही हिन्दूधर्म संसार पर ऐसे प्रखर तेज के साथ छा जाएगा जैसा कदाचित पहले कभी नहीं हुआ। 1

बौद्ध धर्म

मैं तो बौद्धमत को हिन्दू धर्म का ही अंग मानता हूँ। बुद्ध ने संसार को कोई नया धर्म नहीं दिया। इन्होंने संसार को धर्म की एक नई व्याख्या दी। उन्होंने हिन्दूधर्म को जीवन की बलि लेने की बजाय जीवन की बलि देना सिखाया। अन्य जीवों की बलिदेना सच्चा बलिदान नहीं, अपनी बलि देना सच्चा बलिदान करना है।

मेरा अडिग विश्वास है कि भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ कि उसने बुद्ध की शिक्षा को स्वीकार कर लिया, बल्कि इसलिए हुआ कि उसने बुद्ध के उपदेशों अनुसार आचरण नहीं किया। पुजारियों ने सदा की तरह अपने पैगम्बर को सूली पर लटका दिया। वेद वाक्य ईश्वरीय वचन तभी हो सकता है, जब वह जीवन्त हो, सदा विकासशील बना रहे और सभी परिस्थितियों में मार्ग–दर्शन करता फूलता–फलता रहे। पुजारी गण सिर्फ वाक्य और शब्दों में चिपके रहे, उन्होंने उसकी आत्मा उसके मर्म को नहीं समझा। लेकिन निराश होने की जरूरत नहीं है। बुद्ध ने धर्म शोधन का जो प्रयास किया था, अभी तक उसपर ठीक–ठीक अमल करके देखा ही नहीं गया। संसार के इतिहास में ढाई हजार वर्ष का काल कोई बड़ा काल नहीं माना जा सकता। यदि पिण्ड विकास की प्रक्रिया में कई कल्प लग सकते हैं, तो फिर विचार और आचरण के विकास के क्षेत्र में हम किसी चमत्कार की आशा क्यों

करे? और चमत्कारों का युग अभी समाप्त नहीं हुआ। व्यक्तियों के बारे मे जो बात सही है, वहीं राष्ट्रों के बारे में भी सही है।

बुद्ध ने हमको यह शिक्षा दी कि आकार या रूप को महत्व न दो और सत्य तथा प्रेम की अंतिम विजय पर भरोसा रखो। संसार और हिन्दूधर्म की यही उनकी अनुपम देन है। उन्होंने हमको यह भी सिखाया कि इस मार्ग पर चला कैसे जाए? क्योंकि वे अपनी शिक्षा पर स्वयं भी चलते थे। प्रचार का सबसे अच्छा साधन पर्चेबाजी नहीं, बल्कि स्वयं भी अपना जीवन इसी तरह का बनाना, जिस तरह का जीवन हम चाहते हैं, कि संसार अपनाए।

मैंने यह बात अनगिनत बार सुनी है और बौद्ध धर्म की भावना को प्रकट करने का दावा करने वाली किताबों में पढ़ी है कि बुद्ध ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। मेरी नम्र सम्मति में बुद्ध की शिक्षाओ की मुख्य बात के यह बिल्कुल विरूद्ध हैं। मेरी सम्मति में यह भ्रांति इस बात से फैली कि बुद्ध ने अपने जमाने में ईश्वर के नाम पर चलने वाली सभी बुरी चीजों को अस्वीकार कर दिया था और यह उचित किया था। उन्होंने बेशक इस धारणा को अस्वीकार किया कि जिसे ईश्वर कहते हैं, उसमें द्वेष भाव होता है, वह अपने कामों के लिए पछताता है, वह पृथ्वी के राजाओ की तरह लोभ और घूस का शिकार हो सकता है। उनकी संपूर्ण आत्मा इस विश्वास के विरूद्ध विद्रोह कर उठी कि जिसे ईश्वर कहते है, वह अपनी तुष्टि के लिए अपने ही रचे हुए पशुओं के खून की आवश्यकता महसूस करता है। इसलिए उन्होंने परमात्मा को उसके सच्चे आसन पर पुनः प्रतिष्ठित किया और उस पवित्र सिंहासन पर बैठे हुए लुटेरे को हटा दिया। उन्होंने यह बात जोर देकर समझाया और इस सत्य की एक बार फिर से घोषणा की कि यह संसार कुछ शाश्वत और अटल नैतिक नियमों से शासित है। उन्होंने बिना हिचक के कहा है कि नियम ही परमात्मा है।

परमात्मा के नियम शाश्वत और अटल हैं। वे परमात्मा से अलग नहीं किए जा सकते हैं। ईश्वर की पूर्णता की यह अपरिहार्य शर्त्त है।

इसलिए यह भ्रांति फैली कि गौतम बुद्ध का परमात्मा में विश्वास नहीं था और वे स्वयं नैतिक नियमों में ही विश्वास करते थे और स्वयं ईश्वर के बारे में यह भ्रांति फैलने से ही निर्वाण के बारे में मतिभ्रम हुआ है। निर्वाण का अर्थ अस्तित्व का संपूर्ण अंत तो बेशक नहीं है। बुद्ध के जीवन की मुख्य बात जो मैं समझ सका हूँ, वह यह है कि निर्वाण का अर्थ है हममें से सभी बुराईयों का बिल्कुल नष्ट हो जाना, सभी विकारों का नेस्तनाबूद हो जाना, हमारे अंदर जो कुछ भ्रष्ट है या भ्रष्ट हो सकता है, उसकी हस्ती मिट जाना। निर्वाण श्मशान की मृत शांति नहीं है। वह तो उस आत्मा की जीवन्त शांति और सुख है। जिसने अपने आपको पहचान लिया हो और अनन्त प्रभु के हृदय के भीतर अपना निवास ढूँढ़ निकाला हो।

महात्मा बुद्ध हिन्दुओं में एक श्रेष्ठतम हिन्दू थे। गौतम की जीवनी में मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसके आधार पर कहा जा सके कि उन्होंने हिन्दू धर्म त्यागकर कोई अन्य धर्म अपना लिया था।

गौतम ने दुनिया को यह सिखाया कि हमें सृष्टि के तुच्छतम प्राणी को भी अपने बराबर समझना चाहिए। वे धरती के कीड़े–मकोड़े की जिन्दगी को भी अपनी ही जिंदगी के समान बहुमूल्य मानते थे। यह कहना थोथा, अहंकार है कि मनुष्य सृष्टि के सभी प्राणियो ंका स्वामी है। इसके विपरीत ईश्वर ने मानव जीवन को कुछ महत्तर उपादानों से युक्त कर रखा है, इसलिए वह अपने से हीनतर प्राणियों का न्यासी है और महात्मा बुद्ध ने इस सत्य को अपने जीवन में चरितार्थ किया। उन्होंने उन अज्ञानी ब्राह्मणों के सामने ही, जो समझते थे कि निर्दोष मेमने का रक्त भेंट करके ईश्वर को प्रसन्न कर रहे हैं, मेमने को अपने कंधो पर उठा लिया और उन्हें चुनौती दी कि एक भी मेमने की बलि देकर दिखाओ। उनकी उपस्थिति मात्र से ब्राह्मण का कठोर हृदय पिघल गया। लेकिन यदि देवताओं को पशु बलि नहीं दी जा सकती थी तो हम स्वाद लोलुप प्राणियों के लिए उनकी बलि कैसे चढ़ा सकते हैं ?

बुद्ध की शिक्षाओं के प्रधान अंग आज हिन्दूधर्म के अभिन्न अंग हो गए हैं। गौतम ने हिन्दूधर्म में जो सुधार किए उनसे पीछे हटना आज भारत के लिए असंभव है। गौतम स्वयं हिन्दुओं में श्रेष्ठ हिन्दु थे। उनकी नस–नस में हिन्दूधर्म की सभी खूबियाँ भरी पड़ी है। वेदों की दबी हुई कुछ शिक्षाओं में जिनके सार को भूलकर लोगों ने छाया को ही ग्रहण कर रखा था, उन्होंने जान डाल दी। 1

गुरु

मैं धर्मगुरू की खोज में हूँ। गुरू की आवश्यकता है यह मैं मानता हूँ। परंतु जब तक मुझे कोई योग्य गरू नहीं न दीख पड़े तब तक मैं अपने आपको ही अपना गुरू मानता हूँ। यह मार्ग विकट अवश्य है, परंतु आजकल के इस विषम काल में यह योग्य जान पड़ता है।

गुरू–शिष्य का संबंध शुद्ध आध्यात्मिक है, क्षणभर में यह संबंध बनता है और कभी नहीं टूटता। इसका निर्माण गणित शास्त्र की पद्धति पर नहीं होता।

मैं गुरू में विश्वास करता हूँ। किन्तु इस युग में तो लाखों करोड़ों लोगों को बिना गुरू के ही रहना होगा। क्योंकि पूर्ण पवित्रता और पूर्ण ज्ञान का संयोग किसी भी एक व्यक्ति में मिल पाना आजकल बहुत कठिन हो गया है। किन्तु इसी से किसी को ऐसा न मान बैठना चाहिए कि वह तो अपने धर्म के सत्य को कभी जान ही नहीं सकता।

शास्त्रों ने गुरू का होना आवश्यक माना है। लेकिन इस जमानें में गुरूओं का तो करीब–करीब लोप सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसलिए भक्ति प्रधान प्राकृत ग्रंथों का पठन–पाठन करने की शिक्षा देते हैं। किन्तु जिनमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वह शास्त्र का अर्थ करने का अधिकारी नहीं होता। विद्वान लोग विद्वतापूर्ण अर्थ उसमें से भले ही निकालें लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं है। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही व्यक्त कर सकता है।

कोई पूर्ण पुरूष ही मेरी आत्मा को संतोष दे सकता है। मुझे तो ऐसे गुरू की तलाश है, जो शरीर के रहते हुए भी निर्विकार हो, वासनाएँ जिसे छू न पाती हों, जो द्वन्द्वों से परे हो, जो सत्य और अहिंसा का साकार स्वरूप हो और इसलिए न जो स्वयं किसी से डरता हो और न जिससे कोई दूसरा डरता हो, लेकिन ऐसे देहधारी गुरू की प्राप्ति करने के लिए मुझे खुद पूर्ण बनने का प्रयत्न करना होगा।

सदगुरू की शोध करने वाले को निर्दोष और निर्विकार होना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता है। निर्दोष और निर्विकार का अर्थ पूर्ण पुरूष नहीं है। गुरू की आवश्यकता मानने में नम्रता निहित है। गुरू देहधारी ही हो ऐसा नियम नहीं है। जो पूर्ण तो नहीं है लेकिन जो ऊँची कोटि में पहुँच गए हैं, ऐसे अनेक लोगों को आज भी मैं अपना मार्गदर्शक समझता और मानता हूँ ।

पूर्ण पुरूष और ईश्वर में क्या अंतर है? यह प्रश्न पूछने योग्य नहीं है। क्योंकि इसका जो भी उत्तर दिया जाएगा वह अपूर्ण ही होगा। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव से प्राप्त करें।

जिस गुरू में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का लय हो, और जो साक्षात परब्रह्म सम हो, वह देहधारी, विकारी और रोगी मनुष्य नहीं होगा। किन्तु उसमें तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सारी शक्ति होगी। यानि वह आदमी मुख्यतया हमारी कल्पना में ही होगा और वह गुरू, इष्टदेव, केवल सत्य की मूर्ति परमात्मा ही होगा। इसलिए गुरू की खोज परमात्मा की खोज के बराबर हुई।

जो गोविन्द को बता सके वह अवश्य ही गुरू होने लायक है। चाहे वह पीछे भले ही गोविन्द से ही बड़ा गिना जाए। गोविन्द के बनाए जीवों को अनेकों दुख भोगते हुए हम देखते हैं, किन्तु हमें जो इस फंदे से छुड़ा सके वह खुशी से गोविन्द से भी बड़ा पद ले सकता है। यही आशय 'राम से अधिक राम कर दासा' में है। इन सभी महावचनों का अर्थ इतना स्पष्ट है कि अगर हम सरल हृदय से ढूँढे तो न किसी प्रपंच में पड़ें न अनर्थ में। हर एक महावचन में यह अनिवार्य शर्त्त जुड़ी हुई होती है। जो हमें प्रेमधर्म सिखलाये, जो हमें भयमुक्त करे, सादगी सिखलाये, गरीब से गरीब के साथ भी ऐक्य साधने की बुद्धि ही नहीं बल्कि ऐवय का अनुभव करने का हृदय बल भी दे वह हमारे लिए ईश्वर से भी बड़ा है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि ईश्वर का दास अलग और स्वतंत्र रूप में ईश्वर से बड़ा है। हम समुद्र में जा पड़े तो डूब जायेंगे मगर इसी समुद्र की ओर बहने वाली गंगा के मूल से एक लोटा जल प्यास लगने पर लेकर पी ले तो उस समय यह गंगाजल हमारे लिए समुद्र से भी बड़ा है। किन्तु यही गंगाजल वहीं से लेने जाए जहाँ समुद्र में गंगा मिलती है तो वह जहर के समान हो जाता है। ऐसा ही गुरू के विषय में समझना चाहिए। जिनमें दंभ है, ईष्या है, जो सेवा के भूखे हैं उन्हें गुरू मान बैठना तो अनेक प्रकार के गंदे पानी को समुद्र में ले जा रही गंगा नदी के जहरीले पानी के समान समझना चाहिए।

अभी तो हम धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करते हैं। सत्य के नाम पर पाखंड का पोषण करते हैं और ज्ञानी होने का ढोंग करके अनेक प्रकार की पूजा स्वीकार कर आप अधोगति को प्राप्त होते हैं और साथमें दूसरे भी अधोगति को प्रात होते हैं और साथ में दूसरे को ले डूबते हैं। ऐसे समय में किसी को गुरू बना लेने में दुहरा पाप है। किन्तु जब तक सच्चा गुरू न मिले तब तक नेति–नेति कहने में पुण्य है। इतना ही नहीं उससे किसी दिन सच्चे गुरू मिलने का भी प्रसंग आ सकता है।

मैं गुरू–भक्ति को योग्य मानता हूँ किन्तु प्रत्येक शिक्षक गुरू नहीं होता। गुरू–शिष्य का संबंध आध्यात्मिक और स्वयं स्फुरित होता है। वह कृत्रिम नहीं होता, वह बाहर के दबाब से पैदा नहीं होता।

अच्छा गुरू पाने का पात्र वही है, जो अपने गुरू के द्वारा दी गई विरासत में कुछ वृद्धि भी कर सके।

गुरू में स्थितप्रज्ञ के गुण होने चाहिए। ऐसा सर्वगुण संपन्न कोई मनुष्य मुझे नहीं मिला है। थोड़े बहुत अंश में ऐसे गुण कईयों में प्रत्येक देश में मिले हैं।

गुरु शिष्य का संबंध शुद्ध आध्यात्मिक है। क्षणभर में यह संबंध बनता है और कभी नहीं टूटता। इसका निर्माण गणित शास्त्र की पद्धति पर नहीं होता ।

इस युग में किसी को गुरु बनाने अथवा गुरु बनने की बात को मैं बहुत जोखिम की बात समझता हूँ। गुरु में हम पूर्णता की कल्पना करते हैं। अपूर्ण मनुष्यों को गुरु बनाकर हम अनेक भूलों के शिकार बन जाते हैं। इसी से मैंने जानबूझ कर कहा है कि मेरे विचारों का अनुसरण करने वाले व्यक्ति मुझे पसंद हैं, मैं अनुयायी नहीं चाहता। विचारों का अनुसरण करने में ज्ञान की आवश्यकता है और मनुष्य का अनुसरण करने में श्रद्धा प्रधान है। मैं अपनी श्रद्धा—भक्ति नहीं चाहता।

यह गुरु मुझे हमेशा पाठ सिखाता है कि किसी को अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। इसी से इसने आँखें बन्द कर रखी है। किसी की निन्दा नहीं सुननी चाहिए, इसलिए इसने दोनों कान बन्द कर रखे हैं और किसी की चुगली नहीं करनी चाहिए इसलिए इसने मुँह बंद कर रखा है। 1

पाखंड

पाखंड तो सब घर्मो में है। यहाँ सूर्य है, वहाँ अंधेरा है। परछाई हर वस्तु की होती है, किन्तु धार्मिक धूर्त सांसारिक धूर्त से अच्छे हैं। मैं नहीं कहता कि अंधविश्वास को कायम रखो, न ही उनसे लड़ो, परंतु यह लड़ाई धर्म को भूल जाने से नहीं लड़ी जाएगी, बल्कि सही तौर पर धर्म का संपादन करने से लड़ी जा सकेगी।

हम अपने पेट को ही परमेश्वर मान लेते हैं और उसकी पूजा में ही अपना जीवन विताते हैं तो हम पशु पक्षियों की अपेक्षा हल्के दर्जे के हैं।

भारत में और अन्यत्र, ज्ञान और अज्ञान दोनों साथ—साथ चलते आए हैं। इसलिए हम देखते हैं, धर्म के नाम पर अन्याय मूलक

रिवाज चलते है, जैसे काली के सामने पशु बलि आदि। इन अनिष्टकारी रिवाजों को दूर करने की खटपट में फिलहाल हम नहीं पड़ सकते। हमारा पहला सूत्र यह है कि हम आत्मा को जानें। इतना पाठ पढ़ने और जानने के बाद बाकी सब कुछ हमारी समझ में अपने आप आता चला जाएगा।

"वह निष्फल ब्रह्म मैं हूँ, पंचमहाभूतों से बना हुआ यह देह मैं नहीं हूँ। मैं हर रोज सवेरे अपने हृदय में स्फुरित होने वाले आत्म तत्व का स्मरण करता हूँ, मैं कहता हूँ कि ये श्लोक बोलकर हम जगन्नियन्ता की हँसी ही उड़ाते हैं, क्योंकि हम उसके भव्य अर्थ का कुछ भी विचार किए बिना उसे तोते की तरह रट जाते हैं। इस श्लोक में जो कुछ भी है उसके पूरे अर्थ का साक्षात्कार एक भारतीय को हो जाए तो बलवान से बलवान सेना को हराने के लिए अकेला ही काफी होगा।

मैं अकेला तपश्चर्या करूँगा और उसका नाम जपते हुए मरूँगा।

भंगी का स्पर्श करने में पाप नहीं है। गाय के नाम पर मुसलमानों का बध करने में कदापि पुण्य नहीं है। धर्म पुस्तकों में कदापि असत्य का प्रतिपादन नहीं हो सकता। स्वेच्छाचारी के हाथों में धर्म की बागडोर कदापि नहीं दी जा सकती।

जिसमें प्रेम नहीं वह वैष्णव नहीं है। वेद पढ़ने से, वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से, कंठी पहनने से, अथवा तिलक लगाने से कोई वैष्णव नहीं हो सकता। ये सब पाप के फल हो सकते हैं। पाखंडी भी माला पहन सकता है, तिलक लगा सकता है, वेद पढ़ सकता है, मुख से राम नाम जप कर सकता है। लेकिन पाखंडी रहते हुए सत्याचरणी नहीं बना जा सकता, पाखंडी, परपीड़ा का निवारण नहीं कर सकता और पाखंड रहते हुए चंचल चित्त को निश्चल नहीं रखा जा सकता है।

दंभ और मिथ्यावाद को मैं सहन नहीं कर सकता।

अपने दोषों को दूर करने के प्रयत्नों को इतर धर्म का अंग मानकर उनको स्वीकार करके अपने दोषों को बनाए रखना धर्मान्धता है और इससे धर्म का ंास होता है।

वैष्णवों को मैंने अन्त्यजों को इसलिए गाली देते और मारते हुए देखा है कि वे अनजाने में ही उनके शरीर से छू गए। ऐसे व्यवहार को धर्म मानना पाखंड है, पाप है।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि अस्पृश्यता अधर्म है। यह हिन्दूधर्म में निहित बुराई की परिसीमा है–इसका पोषण करना दुराग्रह है। उसे तपश्चर्य के द्वारा दूर करने मे सत्याग्रह है। सत्य का आग्रह ही धर्म है। प्रत्येक रूढ़िगत दोष को पकड़े रहने का आग्रह करना अधर्म है।

पहाड़, उछलती कुदती गंगा, निर्मल जल और ऐसी ही अन्य बातों को देखकर हमें ऋषियों की दूरदृष्टि, कला की परख और सरलता का पूर्ण भान होता है। किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने उनकी कैसी दुर्दशा की है? इसका कुछ–कुछ दुखद अनुभव हमे कुंभ के मेले में हुआ। हृदय के मलिन और नाम के साधु, श्रद्धालु यात्रियों को ठगते थे। मलिन शरीर और आलसी यात्री जहाँ चाहे शौच करके पवित्र स्थान को गंदा करते थे। यह देखकर मेरा मन रोता था, किन्तु आज पाँच वर्ष बाद एक लेखक ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर एक हृदय विदारक विवरण भेजा है। इसे पढ़कर मेरा हृदय रो उठता है और मुझे लज्जा लगती है। इस पुण्य क्षेत्र में पाप कर्मों की सीमा नहीं।

उन्होने ऐसी बातें लिखी है, जिसे छापने की मेरी हिम्मत नहीं। इसमें वहाँ रहने वाले साधुओं की स्वेच्छाचारिता का, उनके वैभव का और उनेक व्यभिचार लीलाओ ंका यथार्थ चित्र दिया गया है। उसमें यह भी बताया गया है कि इससे उन्हें कैसे–कैसे रोग हो जाते हैं। यह भी बताया है कि गरीब यात्री कैसे लुटते हैं तथा साधुवेश में अनेक दंभी लोग कैसी मौज करते हैं ? इस गंदगी को कौन दूर कर सकता है ? उन्होंने मुझे कहा है, किन्तु मैं जानता हूँ कि मुझमें अभी तो इस गंदगी को दूर करने की शक्ति नहीं है।

हिन्दूओं के तीर्थ स्थानों की गंदगी इतनी भयंकर है कि उसे अंधिकांश हिन्दुओं के मन के बदले बिना दूर नहीं किया जा सकता।

इन स्थानों की शुद्धि करना हिन्दुधर्म का पुनरूद्वार करने के समान है। इस कार्य को करने के लिए बहुत बड़ी तपस्या की आवश्यकता है।

एक तीसरे प्रकार के भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चा में जगह ही नही है, वे हैं ढोंगी। उनके पास विचारों का–विश्वासों का कोरा दावा तो है, किन्तु उनका आधार कोरा आडम्बर है। वास्तव में उनका कोई धार्मिक विश्वास ही नहीं होता। तोता राम–राम रटता है तो क्या इसको लोग राम भक्त कहेंगे ?

क्या अस्पृश्यों के जाने से कन्याकुमारी अपवित्र हो जाएगी ? क्या पुरातन काल से ऐसा होता चला आ रहा है? मरे अन्तस से यही आवाज आई कि ऐसा हो ही नहीं सकता और ऐसा ही होता चला आ रहा है तो पुरातन होते हुए भी यह पाप है। पुरातन होने से पाप बदल कर पुण्य नहीं बनता।

मैंने चमत्कारों पर चमत्कारों के रूप में विचार नहीं किया है। न उनमें मेरा विश्वास है न अविश्वास। मैं मानता हूँ कि उनका हमारे आचरण पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

अभी तो हम धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करते हैं। सत्य को नाम पर पाखंड का पोषण करते हैं और ज्ञानी होने का ढोंग करके अनेक प्रकार की पूजा स्वीकार करके आप अधोगति को प्राप्त होते हैं और साथ में दूसरे को ले डूबते हैं।

भक्ति के नाम पर विषय भोग भोगते हुए लोग सभी ओर दिखलाई पड़ते हैं और जब तक भक्ति का रहस्य नहीं समझ में आता है तब तक धर्म के नाम पर अधर्म हो तो आश्चर्य ही क्या है? अगर बगुला भगतों से अनिष्ट परिणाम न निकले तभी आश्चर्य की बात होगी।

निजी स्वार्थ के कारण जो मन्नते ली जाती हैं वे अवश्य ही दोषमय हैं। मन्नत मात्र सदोष है। वृक्षों की मन्नत मानना जितना सदोष हैं, गिरजों और मजारों आदि की मन्नते भी उतनी ही दोष पूर्ण हैं। लोगों को मन्नतो के जाल से छुटना बहुत ही जरूरी है। हमलोगों में अंधविश्वास इतनी जड़ पकड़े हुए हैं कि सभी उनके जाल में फँस जाते हैं।

मन्नत मानने में तटस्थता नहीं होती, उसमें राग होता है, अतः द्वेष भी हो सकता है। मेरी आदर्श प्रार्थना राग रहित है, इसलिए वह सर्वव्यापक और अचिन्त्य ईश्वर तत्व के प्रति की जाती हैं।

मुझे मृतात्माओं से कभी संदेश आदि प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार के संदेशों की संभावनाओं पर अविश्वास करने योग्य कोई प्रमाण भी मेरे पास नहीं है। लेकिन इसतरह के संदेश प्राप्त करने के अथवा करने के प्रयत्नों का मैं निश्चय ही विरोध करता हूँ। ये संदेश प्रायः भ्रामक और हमारी कल्पना ही होती है। यदि इस प्रकार के संदेशों की सम्भावनाओं को मान लिया जाए तो मैं कहूँगा कि यह कार्य प्रेतात्माओं और माध्यम दोनों के लिए हानिकारक है। इस कारण बुलाई मृतात्मा में पुनः संसार के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है और इससे वे मोह में फँसती हैं जबकि प्रयत्न यह होना चाहिए कि मृतात्मा का संसार से मोह छूट जाए और वह अधिक ऊँची उठे। यह जरूरी नहीं कि मृतात्मा अशरीरी होने के कारण पहले से अधिक पवित्र हो जाती है। इस लोक की अपनी अधिकांश कमजोरियों को मृतात्मा अपने साथ ले जाती है। अतः उसके द्वारा दी गई सलाह या जानकारी सच्ची प्रामाणिक हो, यह जरूरी नहीं।

यदि ईश्वर में आस्था है तो प्रेतात्माओं से दूर रहना चाहिए। क्योंकि निःसन्देह भूत–प्रेतों से उच्चतर स्तर की आत्माएँ भी हैं ही। प्रेतात्माओं के साथ संपर्क रखने से हमारे और ईश्वर के बीच रूकावट पैदा होती है।

रजस्वला के बारे में मैं क्या कहूँ मैंने इसका पालन कभी नहीं किया और न करवाया। इस स्पर्श को मैंने पाप नहीं माना है। हमारे ऐसे विशेष आचारों के बारे में परिवर्त्तन की आवश्यकता है, ऐसी मेरी अल्पमति है।

जो लोग दूसरे के पसीने की कमाई पर निश्चित जीवन बिताते हैं वे कभी भी आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकते। आज धर्म जड़ बन गया है–आज सभी धार्मिक पंथों में जो भ्रष्टाचार दिखाई देता है, वह हमारे

समाज का जो मानसिक, शारीरिक व नैतिक पतन हुआ है उन सबका कारण यह तथ्य है कि हमने शारीरिक श्रम को नीची नजर से देखा है। इसलिए आज, साधुओं को ऐसा कार्यक्रम बनाना चाहिए, जिससे आज रामनाम के ज्ञान का प्रसार करने के अलावा समाज सेवा भी कर सके इसके लिए आप स्वयं शारीरिक श्रम करें और जनता से भी करवायें।

साधुता जब तक हृदय की नहीं होती तब तक मेरे लिए उसकी कोई कीमत नहीं है। यदि साधुता दिखावटी होगी तो उसका नाश अवश्य होगा।

जहाँ पाखंड झूठ, भेदभाव तथा अमुक व्यक्ति को स्पर्श न करने की मान्यता हो, वहाँ विष्णु भगवान, खुदा या अल्लाह नहीं रह सकता।

दूध में जहर है तो हम दूध को फेंकते हैं, उसी तरह अच्छें के साथ पाखंड रूप जहर है, तो उसे फेंको।

जिस जगह पाखंड है उस जगह कुछ अच्छा भी हो तो उसे लेने के लोभ में वहाँ मत जाओ। इसी का नाम सहकार है और वह त्याज्य है। 1

सर्वधर्म

सारे धर्म ईश्वर को पहचानने के अलग अलग मार्ग हैं कोई धर्म खराब है ऐसा कहते हुए हिचक होनी चाहिए। हिन्दू योगी और मुस्लिम फकीरों में क्या अंतर होता है? बहुत थोड़ा।

हिन्दू हिन्दूधर्म की ओर अधिक आकर्षित दिखाई देते हैं मुसलमान इस्लाम की ओर और दूसरे भारतीय अपने–अपने धर्मो की ओर। हमारा दृढ़ मत है कि भारतीय कल्याण इसी मार्ग से होगा। हर धर्म वाले अपने–अपने धर्म का रहस्य समझ जाएँ तो आपस में द्वेष कर ही नहीं सकते। नदियाँ अलग–अलग हैं किन्तु सबका मिलान समुद्र में होता है उसी प्रकार धर्म भले ही बहुत हों फिर भी उसका सच्चा उद्देश्य एक है, खुदा या ईश्वर का दर्शन करना।

धर्म भले ही अलग–अलग हो किन्तु एक ही परमपुरूष एक ही वस्तु को आप अल्लाह के नाम से दूसरे खुदा के नाम से और मैं ईश्वर के नाम से पूजूँ तो इसमें क्या बुराई है? आप एक दिशा में मुँह करके पूजते हैं और मैं दूसरी दिशा में तो इस कारण आपसे वैर क्यों बाधूँ? इसे तो नादानी और अदूरदर्शिता ही मानी जाएगी।

धर्मों की तुलना करना अनावश्यक है। हमें अपने धर्म को प्रौढ़ मान कर दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश करनी चाहिए। धर्मो की तुलना करने में दया धर्म का मापदंड माना जा सकता है। जिस धर्म में दया को ज्यादा स्थान दिया गया है, वहाँ धर्म अधिक है। "दया धर्म का मूल है" धर्म की बात सबको समझाने के लिए यह पहला सूत्र है "ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या" यह दूसरा सूत्र है जो सबको भा जाए, ऐसा एक भी सूत्र मिलना कठिन है, किन्तु ऐसा लगता है आत्मा की शोध में लगे व्यक्ति को योग्यकाल में ऐसा कोई योग्य वचन सहज ही मिल जाता है।

सच पूछिए तो जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म हैं। जब तक मनुष्यों के मन में भेद है तब तक धर्म भिन्न–भिन्न रहेंगे ही। जो व्यक्ति अपनी और दूसरे की आत्मा में ऐक्य देखता है, वह विभिन्न धर्मों में भी ऐक्य देखेगा।

मैं कुरान शरीफ और पैगम्बर साहब के प्रति पूरा–पूरा आदर भाव रखता हूँ पर आप वेदों और अवतारों को न मानने का इसरार क्यों करते हैं? श्रीभगवदगीता और रामायण से मुझे अपार शांति मिलती है। मैं खुल्लम–खुल्ला कबूल करता हूँ कि कुरान, बाइबिल तथा दुनिया के अन्याय धर्मों के प्रति मेरा अति आदर भाव होते हुए भी मेरे हृदय पर उनका उतना असर नहीं होता, जितना कि गीता और रामायण का होता है।

मेरे लिए धर्म विहीन राजनीति कोई चीज ही नहीं है। लेकिन जब मैं धर्म की बात करता हूँ तो मेरा मतलब रूढ़ियों और अंधविश्वासों से नहीं है, उस धर्म से नहीं है जो हमें घृणा करना और एक दूसरे से

झगड़ना सिखाता है। मेरा मतलब तो सहिष्णुता के सार्वजनिक धर्म से है।

मेरा धर्म मुझे यह नहीं सिखाता है कि मैं ऐसी प्रार्थना करूँ कि दूसरे लोग मेरे धर्म के हो जाएँ। वह तो मुझे यह सीख देता है कि तुम प्रार्थना करो कि सब अपने–अपने धर्म में रहकर पूर्णता प्राप्त करें।

जब तक अलग–अलग मनुष्य हैं तब तक भिन्न–भिन्न धर्म रहेंगे, लेकिन सच्चे धार्मिक जीवन का रहस्य एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता बरतने में है। कुछ धार्मिक प्रथाओं में जो चीज हमें बुरी लग सकती है, वह उस प्रथा को मानने वालों को बुरी लगे, यह जरूरी नहीं है। मैं चाहूँ तो भी उन भेदों को मिटा नहीं सकता। लेकिन उन भेदों को जानते हुए भी मैं उन लोगों से प्रेम करूँगा, जो मुझसे भिन्न मत रखते हैं। आप इस नियम को सारी दुनिया में देख सकते हैं। हम जिस पेड़ की छाया में बैठे हैं उसकी कोई भी दो पत्तियाँ एक समान नहीं हैं, हालाँकि वे एक ही मूल से उत्पन्न हुई है, लेकिन जिस प्रकार पत्तियाँ पूरी तरह आपस में हिलमिल कर रहती हैं और कुल मिलाकर सघन वृक्ष के रूप में सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करती हैं।

यह बहुत विचित्र बात है कि संसार के प्रायः सभी महान धर्मों के मतावलंबी कहते हैं कि मैं उनका अपना हूँ। जैन मुझे जैन समझने की भूल करते हैं। सैकड़ों बौद्ध भाई समझते हैं कि मैं बौद्ध हूँ। सैकड़ों ईसाई अब भी यही मानते हैं कि मैं ईसाई हूँ और कुछ ईसाई मित्र तो परोक्ष रूप से मुझ पर कायर होने का दोष मढ़ते भी नहीं हिचकते, वे कहते हैं कि हम जानते हैं कि आप ईसाई हैं किन्तु आप इसे स्वीकार करने से डरते हैं। अनेक मुसलमान मित्र कहते हैं कि मैं अपने को मुसलमान नहीं कहता किन्तु व्यवहारतः मैं मुसलमान हूँ और कुछ मित्र समझते हैं कि मैं इस्लाम अपनाने की राह पर हूँ । यह मरे लिए बड़ी तारीफ की बात है और इसे मैं अपने प्रति उनके स्नेह और आदर भाव का प्रतीक समझता हूँ। किन्तु मैं स्वयं अपने को एक तुच्छतम

हिन्दू समझता हूँ और मैं जितनी गहराई से हिन्दूधर्म का अध्ययन करता हूँ उतना ही मेरा विश्वास दृढ़ होता जाता है कि हिन्दूधर्म विश्व के समान व्यापक है और संसार में जो–जो बातें अच्छी हैं उन सबको वह अपने भीतर ग्रहण किए हुए है। वैसा ही भाव मैं अन्य धर्मों के माननेवालों के प्रति रखता हूँ। फिर भी मेरे अन्दर कोई कहता है कि मैं इन बहुत से धर्मों के प्रति जो इतना आदर भाव व्यक्त करता हूँ वह मेरे हिन्दू होने का द्योतक है। इससे मेरे हिन्दुत्व में किंचिंत भी कभी नहीं आती।

मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सभी धर्म ठीक हैं किन्तु हर एक में कुछ न कुछ कमी है। यह स्वाभाविक भी है और अनिवार्य भी। क्योंकि उनकी व्याख्या हमने अपनी तुच्छ बुद्धि और कभी–कभी संकुचित हृदय के धरातल पर की है और अक्सर हम उनका गलत अर्थ निकाल बैठे हैं।

मेरी तो यह मान्यता है कि सारे धर्म उनके अपने भक्तों की दृष्टि से संपूर्ण ही हैं और सब धर्म अन्य लोगों की दृष्टि में अपूर्ण हैं। स्वतंत्र रूप से विचार करें तो सारे धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक सीमा के बाद सारे शास्त्र बंधन रूप जान पड़ते हैं। लेकिन यह तो गुणातीत की स्थिति हुई। सब कोई अपने–अपने धर्म में रहकर अपनी स्वतंत्रता अथार्त मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है सर्वथा राग–द्वेष रहित होना।

शास्त्रकारों के सुझाए गए सारे मार्ग को मिलाकर मैंने अपने लिए किसी तरह यहाँ–वहाँ से कुछ ले लिया है। इसलिए मेरे लिए यह कहना कठिन है कि मुझे कौन सा मार्ग मान्य है। मुझे शंकराचार्य प्रिय हैं; रामानुज, मध्व, वल्लभ यदि भी उतने ही प्रिय हैं। मैंने हर एक से बहुत पाया है किन्तु किसी एक से भी मेरी तृप्ति हो गई हो, ऐसा नहीं हुआ।

गॉड के रूप में उसकी पूजा करना मेरे लिए उचित नहीं होगा। वह नाम मुझ पर कोई प्रभाव नहीं डालता। पर जब मैं उसे राम के रूप में सोचता हूँ तो वह मुझे पुलकित कर देता है।

मेरी दृष्टि में सभी धर्म एक बगीचे में खिले सुन्दर फूलों के समान अथवा एक ही विशाल वृक्ष की विभिन्न शाखाओं की तरह हैं। हम सभी धर्मों को समान मानकर चलें क्योंकि सबकी जड़ एक ही है। सबके विकास के नियम एक से हैं।

सिर्फ ईसा मसीह ही एकमात्र ईश्वर के पुत्र नहीं हैं। यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से हमसे बहुत अधिक ऊपर उठा हुआ है तो हम कह सकते हैं कि वह एक विशेष अर्थ में ईश्वर का पुत्र है यद्यपि उसकी संतान हम सब हैं। हम अपने जीवन के व्यवहार में उसके साथ अपने संबंधों को त्याग देते हैं।

मैं ईसा को मानवता का एक महान शिक्षक मानता हूँ, पर मैं उन्हें ईश्वर का एक मात्र पुत्र नहीं मानता।

मेरा मानव स्वभाव की पूर्णता में विश्वास है। ईसा पूर्णता के उतने निकट पहुँचे थे, जितना पहुँचा जा सकता है। यह कहना कि वे पूर्ण थे मनुष्य से ईश्वर की श्रेष्ठता को अस्वीकार करना है और फिर इस विषय में मेरा एक अपना सिद्धांत है। शरीर के बंधनों से हमें सीमित रहना होता है। इसलिए हम केवल शरीर के विनाश के बाद ही पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। अतः सर्वथा पूर्ण तो केवल ईश्वर ही है। वह भी जब पृथ्वी पर उतरता है तो अपने आपको सीमित कर लेता है। ईसा की सलीब पर इसलिए मृत्यु हुई क्योंकि वे शरीर से सीमित थे। ईसा को एक महान शिक्षक सिद्ध करने के लिए मुझे भविष्यवाणियों या चमत्कारों की जरूरत नहीं है। तीन वर्ष के उनके शिक्षण से बड़ा कोई चमत्कार नहीं हो सकता। रोटी के मुट्ठी भर टुकड़ों से लोगों के समूह को भोजन कराने की कथा में कोई चमत्कार नहीं है। इस तरह का भ्रम कोई भी जादूगर पैदा कर सकता है। लेकिन यदि किसी दिन किसी जादूगर को मानव जाति का त्राता घोषित कर दिया गया तो वह एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा। जहाँ तक ईसा द्वारा मुर्दो को जिन्दा करने की बात का सवाल है, मुझे इसमें सन्देह है कि जिन लोगों को उन्होंने जिन्दा किया, वे सचमुच मर चुके

थे। अपने एक रिश्तेदार की बच्ची, जिसे मृत मान लिया गया था। मैंने भी जिन्दा कर दिया था, पर वैसा इसलिए हो सका कि बच्ची मरी नहीं थी। यदि मैं वहाँ नहीं होता तो बच्ची जला दी जाती। मैंने उसे एनीमा दिया और वह फिर से होश में आ गई। उसमें कोई चमत्कार नहीं था। मैं इस बात से इंकार नहीं करता कि ईसा में कितनी ही आत्मिक शक्तियाँ थी और उनका हृदय निस्संदेह मानव प्रेम से पूर्ण था। परन्तु जिन लोगों को उन्होंने जिन्दा किया वे मरे नहीं थे, बल्कि मरे हुए मान लिए गए थे। प्रकृति के नियमों में परिवर्त्तन नहीं होता वे अपरिवर्त्तनीय है और प्रकृति के नियमो का जो अति लंघन कर सके या उनमें बाधा डाल सके, ऐसा कोई चमत्कार संभव नहीं है। हम प्राणियों की सीमाएँ हैं, इसलिए हम सभी तरह की कल्पनाएँ कर लेते हैं और अपनी सीमाएँ ईश्वर पर भी आरोपित कर देते हैं।

सब मजहबों को एक बनाने का मेरा कोई इरादा नहीं है। हर एक धर्म का मानवीय विकास में अपना खासा योगदान है। संसार के बड़े–बड़े धर्मों को मैं एक ही वृक्ष की अनेक शाखाएँ मानता हूँ। हालाँकि वे निकली एक ही वृक्ष से हैं, पर एक शाखा दूसरी शाखा से भिन्न।

ईश्वर के प्रति मेरी प्रार्थना मेरे जीवन के नियम का अंग है। चाहे ईश्वर को कृष्ण, राम, अल्लाह या ईसा किसी भी नाम से पुकारा जाए, मेरे लिए सब एक ही है। मुझे सभी धर्म एक ही वृक्ष की शाखाओं के रूप में प्रतीत होते हैं। मेरे मत में विभिन्न धर्मों का कोई विरोध नहीं है।

मैं अपनी ओर से यह तुच्छ साक्ष्य दे सकता हूँ कि दूसरे धर्मों के ग्रंथ के अध्ययन के फलस्वरूप मैं उनका उतना ही आदर करता हूँ, जितना कि अपने धर्म का। साथ ही मेरी अपनी धर्म श्रद्धा और अधिक समृद्ध हुई हैं और मेरा दृष्टि क्षितिज विस्तृत हुआ है।

अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरों के धर्म को हीन मानना सच्चे धर्म का उपहास करना है। सभी धर्म एक ही ईश्वर की पूजा का आदेश देते है और वह ईश्वर सर्वव्यापी है। वह पानी की छोटी सी बूँद और धूल के एक कण में भी विद्यमान है। जो लोग मूर्तियों की पूजा करते

है वे भी जिस पत्थर, से मूर्ति बनी होती है उस पत्थर की नहीं बल्कि उसमें निवास करने वाले ईश्वर को देखने की कोशिश करते हैं।

मेरी दृष्टि मे तो ईश्वर को राम कहें या रहमान, गॉड कहे अथवा कृष्ण यह सब सभी शक्तियों में जो अमोध शक्ति है उसी का नाम देने का मनुष्य का मिथ्या प्रयत्न हैं

हमें धर्मो में जो भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं, वे काल विशेष और देश की मर्यादाओं के परिणाम हैं। वस्तुतः संसार में जितने मनुष्य हैं, उतने ही धर्म हैं। क्योंकि किन्हीं भी दो व्यक्तियों की आवश्यकताएँ बिल्कुल एक सी नहीं होती। इसके बावजूद सारे धर्मों में निहित समानता स्पष्ट दिखाई देती है। एक वृक्ष का एक तना अनेक शाखाएँ और बहुत सारी पत्तियाँ बिल्कुल एक सी नही होती यही बात धर्म के संबंध में भी लागू होती है।

मैं प्रत्येक सुशिक्षित स्त्री या पुरुष का यह फर्ज मानता हूँ कि वह संसार भर के धर्म ग्रंथों को सहानूभूति से पढ़े। यदि हम दूसरों के धर्मों की उतनी ही इज्जत करना चाहते हैं जितनी उनसे अपने धर्म की कराना चाहते हैं तो संसार के सभी मतों का प्रेमभाव से अध्ययन करना हमारा पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है।

जो हिन्दू हैं, वह और अच्छा और सच्चा हिन्दू बनें, जो मुसलमान हैं वह और अच्छा मुसलमान बनें और जो ईसाई हैं वह और सच्चा ईसाई बनें।

किसी दिन किसी धर्म की निन्दा करने का मन ही नहीं हुआ। अपने इस स्वभाव के अनुसार कि सभी धर्मों में जो अच्छा जान पड़ा उसे ले लिया और जो बुरा जान पड़ा उसके बारे में उदासीन रहा।

मैं सब धर्मों को सच्चा मानता हूँ मगर एक भी धर्म ऐसा नहीं जो संपूर्णता का दावा कर सके। क्योंकि धर्म तो हमें मनुष्य जैसी अपूर्ण सत्ता द्वारा मिलती है। अकेला ईश्वर ही संपूर्ण है। हिन्दू होने के कारण मैं अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। किन्तु इस बात की स्वप्न में भी आशा नहीं रखता कि सारी दुनिया इसी धर्म को माने।

सब धर्म ईश्वर दत्त हैं, पर वे मनुष्य द्वारा कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा प्रचारित होने के कारण अपूर्ण हैं। ईश्वर दत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाए। सबकी अपनी–अपनी दृष्टि है। जब तक वह दृष्टि बनी है, तब तक सच्चे हैं, पर झूठा होना भी असंभव नहीं है। इसलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती बल्कि स्वधर्म–विषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक और निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते हैं। 1

मूर्तिपूजा

मैं समझता हूँ मूर्तिपूजा मानव स्वभाव का अंग है। प्रतीकों के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है। मूर्तियाँ पूजा में सहायक होती हैं कोई भी हिन्दू मूर्ति को भगवान नहीं समझता।

मैं मूर्तिपूजक भी हूँ और मूर्तिभंजक भी, पर उस अर्थ में, जिसे मैं इन शब्दों का सही अर्थ मानता हूँ। मूर्तिपूजा के पीछे जो भाव है, मैं उनका आदर करता हूँ। मनुष्य जाति के उत्थान में उससे बहुत सहायता मिलती है और अपनी जान देकर भी देवालय की रक्षा करना चाहूँगा और मूर्तिभंजक इस मामले में हूँ कि मैं उस धर्मान्धता के रूप में छिपी सूक्ष्म मूर्ति पूजा को खंडित करता हूँ, जो अपनी ईश्वर–पूजा की विधि के अलावा दूसरे लोगों की पूजा–विधि में किसी गुण और अच्छाई देखने से इंकार करती है।

मूर्ति परमेश्वर नहीं है, बल्कि लोग मूर्ति में परमेश्वर का आरोप करके उसकी आराधना में तल्लीन होते हैं। लाखों सुपुत्र और सुपुत्रियाँ चित्र रखकर अपने माता–पिता की स्मृति ताजा बनाए रखती हैं, तो इसमें क्या बुराई है ? परमेश्वर सर्वव्यापक है। नर्मदा के एक पत्थर में भी उसका आरोप करके परमेश्वर की भक्ति संभव हैं।

मुझे मूर्तिपूजक के ज्ञान पर विशेष प्रतीति हुई है। मूर्तिपूजा का मार्ग दिखाकर उसने एक ईश्वर को अनेक नहीं बनाया है, लेकिन मनुष्य एक ईश्वर के अनेकानेक रूपों की पूजा कर सकते हैं और करेंगे। उसने इस सत्य को खोजा है और संसार को बताया है। ईसाई और मुसलमान अपने को मूर्तिपूजक भले ही न माने लेकिन अपनी धारणाओं की पूजा करने वाले भी तो मूर्तिपूजक ही है। मस्जिद और गिरिजाधर भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। वहाँ जाकर मैं अधिक पवित्र हो सकूँगा इस कल्पना में भी मूर्तिपूजा है और उसमें कोई दोष नहीं है। कुरान में या बाइबिल मे ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इस कल्पना में भी मूर्तिपूजा है और वह निर्दोष है। हिन्दू उससे भी आगे बढ़कर यह कहते है कि जिसे जो रूप पंसद आए, उसी रूप में वह ईश्वर की पूजा करें। पत्थर या सोने–चाँदी की मूर्ति में ईश्वर को जानकर उसका ध्यान करके जो मनुष्य अपनी चित्तशुद्धि करेगा उसको भी मोक्ष प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। प्रदक्षिणा करते समय यह सब मुझे अधिक स्पष्ट दिखाई दिया।

मूर्ति शब्द के अर्थ पृथक–पृथक हैं। यदि मूर्ति का अर्थ ध्यान करने अथवा श्रद्धा प्रकट करने या स्मरण कराने का साधन लिया जाय तो मैं मूर्तिपूजक हूँ। मूर्ति का अर्थ केवल आकृति नहीं है। बुद्धि का प्रयोग किए बिना सार–असार का विवेचन किए बिना, अर्थ की छानबीन किए बिना वेद में जो कुछ लिखा है उस सबको मान लेना मूर्तिपूजा है, बुतपरस्ती है, अतः त्याज्य है। जिस मूर्ति को देखकर तुलसीदास पुलकितगात होते थे, ईश्वरमय, राममय बनते थे, उसका पूजन करते हुए उनका रूप शुद्ध मूर्तिपूजक था। इसलिए वे वदनीय तथा अनुकरणीय हैं।

अंधविश्वास मात्र बुतपरस्ती अथवा निन्द्यमूर्तिपूजा है, जो हर जगह के रिवाज को धर्म मान लेते हैं, वे निन्ध मूर्तिपूजक हैं। अतः

ऐसी जगह मैं मूर्तिभंजक हूँ। कोई भी मुझे शास्त्र के प्रमाण देकर असत्य को सत्य, कठोरता को दया और वैर भाव को प्रेम नहीं मनवा सकता। इसलिए और इस अर्थ में मैं मूर्तिभंजक हूँ। कोई मुझे द्वयर्थक या क्षेपक श्लोक उद्धृत करके अथवा धमकी देकर अन्त्यजों का तिरस्कार या त्याग करना या उनको अस्पृश्य मानना नहीं सिखा सकता और इसलिए मैं अपने को मूर्तिभंजक मानता हूँ। मैं माँ—बाप की अनीति को भी अनीति की तरह देख पाता हूँ और इस देश पर अथाह प्रेम होते हुए भी इसके दोषों को देखकर उन्हें सबके सामने रख सकता हूँ, इसलिए मैं मूर्तिभंजक हूँ।

मेरे मन में वेदादि के प्रति पूरा—पूरा और स्वाभाविक आदर भाव है। मैं पाषाण में भी परमेश्वर को देख सकता हूँ। मेरा मस्तक साधु पुरूषों की प्रतिमाओं के प्रति अपने आप झुक जाता है। इस अर्थ में मैं अपने को मूर्तिपूजक मानता हूँ ।

मैं मूर्तिपूजा का हामी भी हूँ और विरोधी भी। मूर्तिपूजा के कारण जो वहम पैदा हो जाते हैं, उनका खंडन या विरोध करना आवश्यक है। यों तो मूर्तिपूजा मनुष्यमात्र किसी न किसी रूप में करता ही है। पुस्तक—पूजा भी मूर्तिपूजा है। मंदिरों और मस्जिदों को पवित्र मानने का भी यही अर्थ है। मगर इसमें कोई बुराई नहीं। शरीर धारी इसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता। इसलिए मेरे अपने ख्याल में वृक्ष—पूजा में कुछ दोष नहीं है। उन्हें वह बड़ी अर्थपूर्ण और महाकाव्य का सा महत्व रखने वाली है। वृक्षपूजा का अर्थ वनस्पति मात्र की पूजा है। वनस्पति मे जो अद्भूत सौन्दर्य भरा पड़ा है, उसमें ईश्वर की महिमा का कुछ कुछ ज्ञान होता है। वगैर वनस्पति के हम एक क्षण भी नहीं जी सकते। जिस मुल्क में वृक्षादि की कमी होती है वहाँ की वृक्ष पूजा में तो गंभीर अर्थशास्त्र निहित है।

प्रकृति, पुरूष एक ही चीज है। क्योंकि ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं है। परंतु उपाधि के कारण अनेकता प्रतीत होती है। अंत मे जड़ कुछ भी नहीं है। वनस्पति में भी जीव तो है परंतु वह वनस्पति जीव है। भेद प्रत्यक्ष है। हमारी प्रार्थना साकार और निराकार की है। मूर्तिपूजा

उसके लिए आवश्यक है, जिसे वह चाहिए। दूसरे लोग नहीं बता सकते। प्रार्थना का प्रकार सबके लिए एक नहीं हो सकता।

मूर्तिपूजा किसी न किसी रूप में हमारे जीवन की वास्तविकता है। एक प्रकार की पूजा का, दूसरे प्रकार की पूजा से अंतर मात्रा में है, प्रकार में नहीं। मस्जिद जाना या गिरिजा घर जाना एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। बाइबिल, कुरान, गीता और ऐसे ही अन्य धर्मग्रंथों का पूजन भी मूर्तिपूजा है। चाहे आप किसी पुस्तक या इमारत का उपयोग न करें, बल्कि अपनी कल्पना में परमतत्व का एक चित्र खींच लें और उसमें कुछ गुण आरोपित कर दें तो वह भी मूर्तिपूजा है। मैं प्रतिमा की पूजा को निकृष्ट कोटि की पूजा नहीं मान सकता हूँ।

धर्मनिंदक और शंकालु लोग इस तरह की प्रतिमाओं में ईश्वर के दर्शन करने की बात को मन की कल्पना मात्र कह सकते है। लेकिन कल्पना का जीवन में एक बहुत बड़ा स्थान है। अतः भक्तों के लिए तो वे उनके जीवन के अमिन्न अंग हैं—ईश्वर की सत्ता और शक्ति के प्रत्यक्ष प्रतीक हैं—जहाँ उसके प्रति अपनी श्रद्धा की प्रतिज्ञा को प्रतिदिन दुहराना त्याग और समर्पण का कार्य हर दिन संपन्न करना हमारे लिए जरूरी हो जाता है।

हम सभी लोग तत्वचिंतक नहीं हैं और इसलिए अदृश्य ईश्वर के विषय में चिन्तन भर करने से हमें संतोष नहीं मिलता है, चाहे जिस कारण से भी हो हम कोई ऐसी वस्तु चाहते है जिसका हम स्पर्श कर सकें जिसे देख सकें और जिसके समक्ष श्रद्धापूर्वक विनत हो सकें। वैसी वस्तु कोई पुस्तक है या पत्थरों की बनी सूनी खाली कोई इमारत या ईट पत्थरों की कोई ऐसी इमारत है, जिसमें अनेक प्रतिमायें हैं इससे कोई फर्क नही पड़ता।

मेरी राय में हम माने या न माने हम सब मूर्तिपूजक हैं। अवश्य ही पुस्तक, इमारत, चित्र और प्रतिमा सभी मूर्तियाँ हैं, जिनमें ईश्वर का निवास है, मगर वे ईश्वर नहीं हैं, जो यह कहता है कि वे ईश्वर हैं, वह भूल करता है।

यदि मुझे इस वृक्ष में अपना ईश्वर दिखाई देता है और मैं इसकी पूजा करता हूँ तो किसी को इसपर आपत्ति क्यों होनी चाहिए? 1

मृत्यु

मृत्यु हमें अपने कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करती है और इस देह के प्रति लगभग तिरस्कार पैदा करती है। परंतु मृत्यु से डरने की जरूरत नहीं है। आत्मतत्व को पहचानने वाले लोग मौत से नहीं घबराते।

(1909) वैसे मृत्यु के भय से तो मैं भी मुक्त नहीं हो पाया हूँ, यद्यपि मैंने इस संबंध में बहुत चिन्तन किया है। पर तो भी मैं अधीर नहीं हुआ हूँ। मैं सतत प्रयत्न में हूँ और अवश्य ही किसी दिन मुक्त हो जाऊँगा। प्रयत्न का एक भी सुअवसर हाथ से न जाने दें। हमारा यही कर्त्तव्य है। परिणाम की इच्छा या प्राप्ति तो प्रभु के अधिकार की बात है और इसलिए यह बखेड़ा क्यों?

मृत्यु के भय को दूर करने के लिए, मनोविकारों को नष्ट करने के लिए, प्रयत्न करना चाहिए और प्रसन्नचित रहना चाहिए। ऐसा करने से वे दूर हो जाएँगे नहीं तो यह बात चरितार्थ होगी कि बन्दर का स्मरण न करने के प्रयत्न में उसका ख्याल बना ही रहा।

जीने के लिए हम इतने अधिक व्यग्र रहते हैं कि मृत्यु के अवसर और उसमें भी प्रियजनों की मृत्यु के अवसर सदा भय उत्पन्न करते हैं। मुझे तो बहुत बार यही ख्याल आया है कि ऐसे अवसर हमारी सच्ची परीक्षा के अवसर होते हैं। जिसे आत्मा का तनिक भी भान हो वह मृत्यु का स्वरूप समझता है। वह वृथा शोक क्यों करें?

जैसे जीर्ण हुए मकान को छोड़कर नए मकान में जाते समय हमें आनन्द होता है, वैसे ही जीर्ण शरीर छोड़कर एक मृत आत्मा को नए देह धारण करने में क्या शोक हो सकता है?

जो बात मृत्यु के बाद ही जानी जाती है, उसको आज जान लेने का लोभ रखना कितना जर्बदस्त मोह है? यदि पाँच साल का कोई बालक पचासवें वर्ष में क्या हो जाएगा, यह जानने का लोभ रखें तो उसकी क्या स्थिति होगी? परंतु जिस तरह ज्ञानी बालक औरों के अनुभव से अपने संबंध में कुछ अनुमान कर सकता है, उसी तरह हम भी औरों के अनुभव से मृत्यु के बाद की स्थिति का कुछ अनुमान करके संतुष्ट रह सकते हैं अथवा मृत्यु के बाद क्या होगा यह जानने से क्या लाभ? क्या इतना जान लेना काफी नही है कि सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कड़वा होता है? सर्वोत्तम कृत्य का फल मोक्ष है।

जब–जब मेरे कुटुम्बियों या स्नेहियों की मृत्यु का अवसर आया है तब–तब मैंने गीता का ही आश्रय ढूँढा है। गीता यही बताती है कि मृत्यु शोक करने की वस्तु हो ही नहीं सकती। यदि कभी मेरी आँखों से आँसू निकले हैं तो वे अनिच्छा से ही और उसका कारण है मेरी निर्बलता। शरीर असत् है। असत का अर्थ माया नहीं, ऐसी वस्तु नहीं जो कभी किसी रूप में उत्पन्न न हुई हो, बल्कि उसका अर्थ है क्षणिक, नाशवान और परिवर्त्तनशील। फिर भी हम अपने जीवन का सारा व्यवहार ऐसा, मानकर ही करते हैं मानो हमारा शरीर शाश्वत हो। हम शरीर को पूजते हैं और उससे चिपटे रहते हैं। यह सब धर्म के विरूद्ध है। यदि हिन्दू धर्म में कोई बात सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट भाव से कही गई है तो वह है शरीर का और दृश्य पदार्थो का असत भाव। फिर भी हम जितना मृत्यु से डरते हैं और मरे हुए के लिए जितना रोते पीटते हैं उतना शायद ही कोई धर्मावलंबी डरते या रोते–पीटते हों। महाभारत में कहा गया है कि रूदन से मृत आत्मा को संताप होता है और गीता इसीलिए लिखी गई कि लोग मृत्यु को भीषण वस्तु न माने। मैं प्रतिदिन यह अधिकाधिक अनुभव करता जाता हूँ कि अशाश्वत वस्तु के लिए की गई यह सब चिन्ता निरर्थक और व्यर्थ का कालक्षेप है।

जिसे आत्मा के अस्तित्व के बारे में पूरा विश्वास है, वह चाहे कितनी ही अनपेक्षित मृत्यु क्यों न हो, उससे न तो डरता है न

विचलित होता है। ठेठयुवावस्था में अथवा बचपन में भी जो मृत्यु होती है, वह भी प्रकृति के नियम के अनुसार ही होती है। इन सब नियमों को हम जानते नहीं, इसी से भयभीत रहते हैं।

मौत को अधिक नहीं तो कम से कम हम जिन्दगी जितना प्यार करना सीखें। कोई कह सकता है कि यह एक मुश्किल काम है और इस पर अमल करना भी मुश्किल है। मगर हर उचित काम मुश्किल तो होता ही है। चढ़ाई हमेशा मुश्किल होती है उतराई आसान और फिसलन भरी होती है। जिन्दगी तभी तक जीने लायक होती है जब तक मौत को दुश्मन नहीं बल्कि दोस्त माना जाता है। जिंदगी के प्रलोभनों को जीतने के लिए मौत की मदद लीजिए।

यदि लोग नियमानुसार संयम पूर्वक रहें, तो मृत्यु भी समय पर आए और चिन्ताएँ स्वाभाविक लगने लगे। आँधी चलने पर जब कच्चे फल टूटकर गिरने लगते हैं तब हम विचलित हो उठते हैं। पके फलों के गिरने से संतोष होता है। यही बात मानव जीवन के साथ भी है। प्लेग आदि भयंकर तूफानों के आने पर लोगों की आकस्मिक मृत्यु होने लगती है, तब हम दुखी हो उठते हैं। जहाँ ऐसा न हो वहाँ सतयुग है। मृत्यु से भय न हो, ऐसा युग लाना हमारा काम है। यदि हम जितना चाहिए उतना प्रयत्न करें तो हमारे लिए सतयुग आ गया समझो। हमें मौत के लिए तैयार रहकर अपना जीवन निर्भय बिताना है।

शरीर तो आखिर नष्ट होगा ही। यदि वहाँ आत्मा की उपस्थिति मालूम होती हो तो ठीक है। क्योंकि वह वहाँ सदा बनी रहेगी। हम जिस पर प्रेम रखते हैं, उसके शरीर के प्रति अपनी आसक्ति ज्यों–ज्यों छोड़ते हैं, त्यों–त्यों उसके प्रति हमारा प्रेम विशुद्ध और विस्तीर्ण होता है।

जिनकी हम आराधना करते हैं, उनके सद्‌गुणों का अनुसरण करने में ही सच्ची आराधना है। ऐसा महान जीवन देह नष्ट होने से क्षीण नहीं होता, बल्कि देह नष्ट होने के बाद उसकी शुरूआत होती है।

आत्महत्या पाप है और हरएक पाप वियोगकारी है। इसलिए आत्महत्या करने से आपकी पत्नी से आपकी दूरी बढ़ेगी ही। फिर

मृत्यु से समस्या हल भी नहीं होगी। क्योंकि तब आप वहाँ चले जाएँगे, जहाँ जाना आपके भाग्य में लिखा है। लेकिन आप इस शरीर को छोड़ने तक खुद को सुधार सकते हैं। आप उनके शरीर को प्यार करते थे या उसमें प्रतिष्ठित आत्मा को ? यदि आप शरीर को प्यार करते थे तब तो आपको चाहिए था कि उसपर मशाला चढ़ाकर उसे अपने कमरे में बंद करके रखते। यदि उनकी आत्मा को प्यार करते थे, तो वह तो अब भी आपके साथ हैं। उनमें जो कुछ अच्छा था, उसकी स्मृति ही क्या आपके लिए पर्याप्त नहीं है? या आपका प्रेम स्वार्थपूर्ण था। जिन्हें हम प्यार करते हैं, उनकी मृत्यु के बाद तो ऐसा अनुभव होना चाहिए कि वे हमारे और भी निकट आ गए हैं।

यदि हम अपने प्रियजनों की मृत्यु के विषय में निश्चिन्त हो जाएँ तो अपनी मृत्यु के विषय में उससे भी ज्यादा निर्मम हो जाएँगे और इस महान मित्र से भेंट के लिए तैयार रहेंगे। मौत का डर किसलिए? मौत के बाद जन्म है या मोक्ष है। जन्म अच्छा तो लगता ही है। प्रयत्न करें और पसंद हो तो मोक्ष भी है। तीसरी स्थिति तो है ही नहीं।

अभी–अभी तार मिला है कि रसिक कल चल बसा। हमारे लिए ईश्वर की मर्जी ही कानून है। मेरा दैनिक कार्य निर्विघ्न चल रहा है। उनके कार्य में प्रतिकूलता देखना समर्पण में कमी मानी जाएगी।

मृत्यु के बारे में मेरे जो विचार हैं उसके कारण रसिक (पौत्र 20 साल का) की मृत्यु से मुझे दुख का अनुभव नहीं हुआ और जो थोड़ा हुआ भी है वह निरे स्वार्थ वश... इस दृष्टि से उसकी मौत मुझे ईश्वर के और भी अधिक समीप ले जाती है और पहले की अपेक्षा ज्यादा जोरों से मुझे मेरी जिम्मेदारी की भान कराती है।

बिना मौत कोई नहीं मरता, अकाल मृत्यु मिथ्या भ्रम है। एक दिन जीवित रहकर मरने वाले बालक की भी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसकी मृत्यु का अर्थ है कि उस देह के कर्म पूरे हो गए। मृत्यु के कारण हमें जो दुख होता है वह केवल अज्ञान और स्वार्थवश। आत्मा

के धर्म के प्रति अज्ञान के कारण और चूँकि स्वयं मरना नहीं चाहते इस कारण मित्र आदि की मृत्यु से हम विचलित हो उठते हैं।

हमने तो मौत को मित्र मानना सीखा है। यदि संसार में मौत न होती तो हम क्या करते ?

मृत्यु मार्ग तो राजमार्ग है, इच्छा या अनिच्छा पूर्वक हम सबको उसे रौंदना ही है तथा असंख्य बटोहियों के बावजूद वह सूना का सूना बना रहेगा। अतः वह परमशांति का मार्ग भी है। जो उस पर जाते डरता है, वह धैर्य नहीं रख पाता है और जो निडर रहता है, वह शांति के साथ सुख उठाता है।

अपने प्रियजनों को अधिक से अधिक समय तक भौतिक शरीर में देखने की इच्छा स्वार्थपूर्ण इच्छा है और वह मन की कमजोरी से अथवा शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा न होने से पैदा होती है। रूप सदा बदलता रहता है, सदा नष्ट होता रहता है। उसके भीतर रहने वाली आत्मा न कभी बदलती है, न नष्ट होती है। सच्चा प्रेम वह है–जो शरीर के बजाय उसके भीतर रहने वाली आत्मा के प्रति रखा जाए और जो यह जरूरी तौर पर अनुभव करे कि असंख्य शरीरों में रहने वाली जीवात्माएँ एक ही हैं।

शरीर के नष्ट होने पर प्रियजन अधिक सच्चे रूप में जीवित रहते हैं और हमारे प्रेम को भी सच्चा बना देते हैं, क्योंकि तब वह निःस्वार्थ होता है और सारे प्राणियों में बँट जाता है। प्रत्येक मित्र या रिश्तेदार की मृत्यु के साथ हमारा विश्व–प्रेम बढ़ना चाहिए।

मैं मृत्यु का स्मरण अपने को जगाए रखने के लिए करता हूँ। पृथ्वी इस विश्व मंडल में एक कण जैसी है। उस कण के ऊपर हम देह रूप में तुच्छ कण है। हम एक बिल में रहने वाली चीटियों को गिनने में असमर्थ हैं। चीटी से छोटे कीटाणु को तो हम देख भी नहीं सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम इन अदृश्य कीटाणुओं से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देह को क्षणभंगुर कहा है, वह अक्षरशः सत्य है। उसका मोह क्या? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यों दुख दें ? काँच से भी कमजोर जरा सी चोट से टूट जाने वाली–देह को बनाए रखने के लिए इतना उपद्रव क्यों मचाएँ ? मौत के माने है इस देह से जीव का उड़ जाना। मौत का डर किस लिए ? उस क्षण को दूर रखने के लिए यह महाप्रपंच क्यों ? इन बातों पर बार–बार विचार कर के छोटे–बड़े सब दिल से मौत का डर निकाल दें और देह में रहकर जब तक वह रहे तब तक सेवा के कार्य में उसे प्रयुक्त करें।

'चीजें जैसी दिखती है वैसी नहीं होती'। बात यह है कि यदि ईश्वर के सारे कानून हम जानते हों, तो ही हमें उन बातों का अर्थ मिल सकता है, जो साधारण हालत में हमारी समझ में नहीं आती। यदि किसी को हमारे बीच से उठा लिया, तो हम यह क्यों मानें कि यह दुख की बात हुई ? हम सही बात नहीं जानते। मगर हम इतना तो जानते ही हैं और जानना चाहिए कि ईश्वर पूरी तरह भला है और पूर्णतः न्यायी है।

प्रेम को भौतिक सान्निध्य की आवश्यकता नहीं होती और यदि हो तो वह प्रेम क्षणिक माना जाएगा। एक के शुद्ध प्रेम की कसौटी दूसरे का वियोग होने पर–मृत्यु होने पर होती है।

अगर कोई वस्तु मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष है तो वह मृत्यु ही है। ऐसा होते हुए भी इस अनिवार्य प्रत्यक्ष वस्तु का भारी डर लगता है, यही आश्चर्य है, यही ममता है, यही नास्तिकता है। उससे तर जाने का धर्म मनुष्य के लिए ही सुलभ है।

पाप और पुण्य मृत्यु के बाद भी जीव के साथ जाते ही हैं। जीव–जीव के रूप में उन्हें भोगता है, फिर भले ही वह दूसरे दृश्य शरीर में हो या सूक्ष्म शरीर में।

मैंने खुद वर्षों से मृत्यु पर शोक करना बंद कर दिया है, जब कोई साथी मुझसे छिप जाता है, तो धक्का सा लगता है, लेकिन वह केवल निजी लगाव के कारण होता है। जो दूसरे शब्दों में स्वार्थ ही है। परंतु मैं तुरंत ठीक हो जाता हूँ और समझ लेता हूँ कि मृत्यु तो छुटकारा है और उसका स्वागत उसी तरह किया जाना चाहिए जैसे

कि किसी मित्र का किया जाता है और मृत्यु का अर्थ शरीर की समाप्ति है और उसके भीतर रहने वाली आत्मा की नहीं।

हम सब ईश्वर के हाथों में हैं हम जीते रहें तो भी अच्छा और मर जाएँ तो भी अच्छा। हम मरने के लिए ही पैदा होते हैं और फिर पैदा होने के लिए ही मरते हैं। यह सब पुराना तर्क है फिर भी इसे हृदयंगम कर लेने की आवश्यकता है। चाहे कोई भी कारण हो पर हम जन्म की तरह मृत्यु का स्वागत नहीं करते। हमें स्वयं अपनी इन्द्रियों के इस साक्ष्य पर भरोसा नहीं होता कि आत्मा के बिना शरीर से कोई आसक्ति रखी ही नहीं जा सकती और इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि आत्मा शरीर के साथ नष्ट हो जाती है।

शरीर नष्ट हो जाए तो क्या है? क्या मृत व्यक्ति काम नहीं करते रहते हैं? रामकृष्ण, दयानंद विवेकानंद, रामतीर्थ की आत्माएँ हमलोगों के बीच क्या आज भी अपना–अपना काम नहीं कर रहीं, हो तो यह भी सकता है कि वे आत्माएँ जब पार्थिव शरीर में आबद्ध थी तबसे वे आज कहीं ज्यादा शक्तिशाली हों। यह कहना गलत है कि बहुघा मनुष्य के सत्कर्म उसकी मृत्यु के साथ विलीन हो जाते हैं। हम उसकी बुराइयों को उसके नश्वर शरीर के साथ जला देते हैं पर उसके सत्कर्मों के याद को हम सुरक्षित रखते हैं। ज्यों–ज्यों समय बीतता जाता है, स्मृति का मूल्य बढ़ता जाता है।

काँच के उस गोले को फिर भी दस हजार वर्ष ज्यों का त्यों रखा जा सकता है। परंतु इस शरीर को एक मिनट के लिए भी हम जैसे का तैसे नहीं रख सकते। मृत्यु से निश्चय ही सारे प्रयत्नों का अंत नहीं हो जाता। ठीक ढंग से सामना किया जाए तो मृत्यु उदात्त प्रयत्न का आरंभ भी हो सकती है, परंतु यह सत्य तुम्हें स्वयं अन्तः प्रेरणा से देखना होगा।

हम पागलपन में अपने को दूसरों से भिन्न मानते हैं। यदि एक ही समझें तो न कोई मरता है, न कोई जीता है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।" यह शरीर नित्य मरता है, तो नित्य जीता भी है। उसी

तरह जगत रूपी विराट स्वरूप भी नित्य मरता है, तो भी जीता है। उसमें हम जो बिन्दुरूप हैं उनका मरना मृत्यु ही नहीं है। शरीर का रूपांतर होता रहेगा। उसमें शोक क्या करना? तो क्या हम कठोर बनें? नहीं। लेकिन यदि हम सब जीव भिन्न दीखते हुए भी एक हैं, तो दूसरों के लिए हम मरें, अर्थात असंभव त्याग करते रहें।

मरण अचूक और सच्चा मित्र होता है और वह जब भी आए, हमें उसका स्वागत करना चाहिए। वह जन्म का ही जुड़वा भाई है। हम एक का स्वागत करें और दूसरे से डरें, यह बात मेरी समझ में कभी नहीं आई। अगर मृत्यु के बाद किसी प्रकार का जीवन निश्चित है, तो मृत्यु प्रदत्त परिवर्तन का हम स्वागत क्यों न करें?

मर कर ही अलग होंगे, ऐसी बात भी नहीं है। क्योंकि मैं नहीं मानता कि मृत्यु में आत्मा को आत्मा से अलग करने की शक्ति है। खून का रिश्ता स्वभावतः एक भौतिक संबंध है। लेकिन सच्ची मित्रता ऐसी नहीं होती।

तू निराश क्यों होता है? यमराज हमारे शत्रु नहीं मित्र हैं। कोई उनके शासन के बाहर नहीं रह सकता और जो उनके शासन के अधीन रहता है, वह सदा सुखी रहता है। अपने नहीं रहने के बाद की चिन्ता तू क्यों करता है? वह भगवान को सौंप। जिन्हें सौंपेगा, वे भी तेरे समान टूटी नाव में बैठे हुए हैं। उनपर भरोसा करने से क्या होगा?

मृत्यु किसी परिवार को अपना कर वसूल किए बिना नहीं छोड़ती। हम उसके दूतों को अपना मित्र मानकर यह कर खुशी–खुशी क्यों नहीं दे दें? मुझे अपनी किशोरावस्था में ही उससे परिचित होना पड़ा और मैं यह मानना सीख गया कि मृत्यु एक स्वागत योग्य मुक्ति का साधन है–चाहे उसका ग्रास कोई दुधमुँहा शिशु या जीवन के पूरे ओज पर स्थित कोई व्यक्ति अथवा कोई वयोवृद्ध ही क्यों न हो। तथाकथित दुर्भाग्यों को विपत्ति या दण्ड मानना मैं कब का छोड़ चुका हूँ।

विपदो नैव विपदः संपदो नैव संपदः।
विपद्धि स्मरणं विष्णो संपन्नारायण स्मृतिः।

जिसे विपत्ति कहते हैं वह विपत्ति नहीं है जिसे संपत्ति कहते हैं वह संपत्ति नहीं है। प्रभु का विस्मरण ही विपत्ति है और उसका स्मरण ही संपत्ति है।

तुम्हें मृत्यु पर हमेशा सोचते नहीं रहना चाहिए और न विषण्ण होना चाहिए। यदि वह जीवन काल में तुम्हारी प्रेरणा थी, तो अब चिरनिद्रा में लीन हो जाने के बाद उसे तुम्हारे लिए और बड़ी प्रेरणा होनी चाहिए। इसी को मैं आत्माओं का सच्चा मिलन मानता हूँ। इसका ज्वलंत उदाहरण ईसा और आधुनिक युग में रामकृष्ण का है। मरणोपरांत, उनका प्रभाव और भी बढ़ गया। उनकी आत्मा की मृत्यु नहीं हुई, न ही विद्या की आत्मा की हुई। इसलिए तुम शोक करना छोड़ दो।

देह छोड़ने पर मनुष्य मरता नहीं, केवल दूर चला जाता है।

मैं मृत्यु से पहले ही मरने में विश्वास नहीं रखता आगामी बातचीत असफल होगी, मैं ऐसा नहीं सोचता। मैं हमेशा अच्छे से अच्छे परिणाम की आशा रखता हूँ और बुरे से बुरे परिणाम के लिए तैयार रहता हूँ।

आश्चर्य की बात यह है कि मैं अब भी जीवित हूँ और जीने के आनन्द का अनुभव कर सकता हूँ। मैं ऐसा इसलिए कर सकता हूँ क्योंकि मैं मृत्यु के आनन्द को भी जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए मुझ पर दो में से किसी का असर नहीं होता और ईश्वर जैसा कहता है, मैं वैसा करता हूँ।

अपनी पत्नी की स्मृति को हृदय में संजोकर रखें और अपने आपको आस–पास की संतप्त मानवता की सेवा में लगा दें, वास्तव में मरता कोई नहीं है। शरीर की नियति नष्ट होना है, कुछ आज नष्ट होते हैं कुछ कल।

मृत्यु के बाद स्मरण करके रोना हानिकारक है। वह स्मरण अच्छा है, जो आत्मा को ऊँचा चढ़ाता है, जागृत करता है। आत्मा का स्वरूप सत् (सत्य) चित् (अनुभव सिद्ध ज्ञान हृदय से मिला हो) और आनंद है। आनंद में दोनों की परीक्षा है, आनन्द भीतर का, जो बाहर देखने में आता है।

ईश्वर को अव्यक्त रूप में भजने के लिए नित्य तारा दर्शन करो और सूर्यदर्शन बड़ी फजर में। उस दर्शन में अपनी पत्नी को मिला दो। वह भी तो ऊँचे गई है न?

जन्म–मरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक दूसरे से अलग नहीं हैं। वे एक ही चीज के दो भिन्न पहलू है, किन्तु अज्ञानवश हम एक का स्वागत करते हैं और दूसरे से भयभीत होते हैं।

मौत से जितने लोग मरते हैं, उससे फिकर से अधिक मरते हैं।

मृत्यु का क्षण जगह और तरीका यह सब हमारे लिए पहले से तय है या नहीं, मैं नहीं कह सकता। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि ईश्वर की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता।

मृत्यु तो निद्रा और विस्मृति है। यह ऐसी मीठी निद्रा है कि शरीर को फिर जागना ही नहीं पड़ता और स्मृति के दुस्सह मार से तो हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाता है।

बच्चे जवान और बूढ़े सभी अपना समय आने पर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सभी शरीर में अपना कर्ज चुकाकर चले जाते हैं। हो सकता है कि बच्चे के शरीर में रहने वाली आत्मा अधिक ज्ञानी हो और एक वृद्ध के शरीर में रहने वाली आत्मा अज्ञानी हो। ऐसी स्थिति में किसी की मृत्यु का शोक करें।

वृद्ध शरीर हो जाने पर शरीर का त्याग ही बेहतर है। जहाँ तक संभव हो अपने प्रियजनों को जीवित देखने की इच्छा हमारा स्वार्थ और ऐसा शरीर नष्ट हो जाने के बाद आत्मा के अस्तित्व में हमारी अनास्था और अनिश्चय के कारण ही होता है। रूप तो सदा बदलता रहता है और नष्ट भी होता है। लेकिन प्राण दायिनी आत्मा न तो बदलती है और न मिटती है। सच्चा प्रेम वही है, जिसमें हम अपने अंदर वास करने वाली आत्मा को शरीर से पृथक मानें और असंख्य जीवों में बसी आत्मा की अभिन्नता को पहचान लें।

गीता को कंठस्थ करने के बाद जन्म–मरण का हर्ष–शोक कैसा ? ऐसी बीमारियाँ यह परखने की कसौटी है कि हमारे गीता पढ़ने का लाभ हो रहा है या नहीं।

मृत्यु को हम मित्र समझें। मित्र की भेंट प्रियजनों से होने में परिताप क्यों ? मृत्यु का भय तो हमें छोड़ना ही है।

इन संदर्भों से मुझमें मृत्यु से न डरने की भावना और बलवती होती है। किसी घटना से कोई विचलित क्यों हो ? यदि मैं मृत्यु का सामना करने को तैयार हो जाऊँ और इसे जीवन का सर्वोच्च और सुखद संकेत मान लूँ तो मेरे भाई की मौत मेरे लिए कोई विपदा नहीं होगी। मृत्यु के प्रति अपने भय के कारण ही हम दूसरों की मौत पर आँसू बहाते हैं, जब मैं जानता हूँ कि शरीर नश्वर है और आत्मा अमर है तो शरीर के आत्मा से अलग होने पर दुखी क्यों होऊँ।

शरीर से जब आत्मा अलग हो, चाहे वह प्रियतम मित्र ही क्यों न हो, शोक नहीं मनाना चाहिए। 1

पुर्नजन्म

इस बात को मैं अक्षरशः मानने वाला हूँ कि अनेक योनियों में भटकने के बाद मनुष्य जन्म मिल सकता है और मोक्ष अथवा द्वन्द आदि से सर्वथा मुक्ति मनुष्य देह के द्वारा ही मिल सकती है। यदि आत्मा अन्ततः एक ही है तो अनेक आत्माओं के रूप में उसका असंख्य योनियों में भटकना असंभव अथवा आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए। इस बात को बुद्धि भी स्वीकार करती है और कुछ लोग तो अपने पूर्वजन्म की स्मृति भी प्राप्त कर सकते हैं।

पुर्नजन्म का अर्थ है–"शरीर का रूपान्तर, आत्मा का नहीं।" इसलिए पुनर्जन्म (रूपान्तर की) वैज्ञानिक मान्यता से भिन्न है। आत्मा का रूपांतर नहीं, बल्कि स्थानान्तरण होता है। अपने को कर्त्ता न मानने

वाले के हाथ किसी की मौत होती ही नहीं। कर्तृत्व को मानना न मानना बुद्धि का नहीं हृदय का विषय है। इसलिए सच पूछा जाए तो कर्त्ता न मानकर ईश्वरार्पण करने का यह प्रयोग ही गलत है, क्योंकि यहाँ बुद्धि का प्रयोग हुआ है और गीता, या अन्य शास्त्रों में ईश्वरार्पणता के जो वचन आते है, उनका बुद्धि के साथ कुछ भी संबंध नहीं।

यह प्रकृति की कृपा है कि हमें पूर्वजन्मों का स्मरण नहीं है। हमने जो असंख्य जन्म लिए हैं, उनकी तफसील जानने से फायदा भी क्या है? ज्ञानवान मनुष्य बहुत सी बातें जानबूझ कर भूल जाता है, ठीक उसी तरह जैसे मुकदमें की पैरवी के बाद वकील। मृत्यु केवल निद्रा और विस्मृति है।

पुर्नजन्म के विषय में तो शंका की गुंजाइश ही नहीं है। हमारा शरीर रोज–रोज थोड़ा–थोड़ा सा बदलता है और सात वर्ष में तो सारा बदल जाता है। लेकिन शरीर एक ही लगता है, क्योंकि आकृति एक है। किन्तु यदि शरीर सात वर्ष में बदल जाता है, तो जिसे हम मृत्यु के नाम से जानते हैं, उसके आने से सब कुछ नष्ट हो जाता है, ऐसा मानने का कोई कारण ही नहीं है। 1

आत्मा

आत्मा जीवन से अलग है। जीवन शरीर पर आश्रित है, आत्मा नहीं।

आत्मशक्ति का आरम्भ तभी होता है, जब आदमी यह जानने लगता है कि अपने में ही नहीं सारी सृष्टि में व्याप्त आत्मशक्ति की तुलना में शारीरिक शक्ति चाहे वह कितनी भी महान क्यों न हो, तुच्छ है।

शरीर से पास न होने पर भी मैं उसकी आत्मा को अपने पास अनुभव करता हूँ। आध्यात्मिक संबंध कभी टूट, नहीं सकता। आध्यात्मिक सान्निध्य कभी विच्छिन्न नहीं हो सकता।

जब सत्य दृष्टि को धुँधला बनाने वाला अज्ञान मिट जाता है और आत्मा को यह बोध हो जाता है कि शरीर आत्मा से पूर्णतया भिन्न है, तो व्यक्ति आत्मा में यथार्थ ज्ञान की सभी बाधाओं को पार कर लेगा और आत्मा पर केन्द्रित हो जाएगा।

आत्मा की दृढ़ता मनुष्य के भौतिक अस्तित्व के अन्त तक रहती है और किसी भी तरह का आन्तरिक या बाह्य कष्ट इसे तोड़ नहीं सकती।

मनुष्य का शरीर तो आखिरकार नाशवान है। यह है ऐसा कि सदा टिका नहीं रह सकता। फिर भी मनुष्य इसके सँवारने के मोह में फँसा रहता है, और अंदर मौजूद अमर आत्मा की उपेक्षा करता है। 1

यज्ञ

यज्ञ शब्द सुन्दर है, उसमें शक्ति है इसलिए जैसे–जैसे ज्ञान और अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे अथवा युग बदलने के साथ–साथ उसका अर्थ भी विस्तृत हो सकता है और बदल सकता है। यज्ञ का अर्थ पूजन, बलिदान या पारमार्थिक कर्म किया जा सकता है। इस अर्थ में यज्ञ का पुनुरूद्धार करना हमेशा उचित हो सकता है। लेकिन यज्ञ के नाम पर जो भिन्न–भिन्न क्रियाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं, उनका पुनरूद्धार इष्ट नहीं है और शक्य भी नही है। इनमें से कितनी ही क्रियाएँ तो हानिकारक भी हैं। इसके सिवा आज इन क्रियाओं का जो अर्थ किया जाता है, वैदिक काल में भी उनका यही अर्थ होता था अथवा नहीं, इसमें भी संदेह है। संदेह, सही हो या न हो, लेकिन इनमें से कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हें आज हमारी बुद्धि अथवा नीति स्वीकार नही कर सकती। प्राचीन शास्त्रवेता कहते है कि–पूर्वकाल में नरमेध होता था। क्या आज यह संभव है? यदि कोई अश्वमेध करने का आयोजन करे तो यह क्रिया हास्यास्पद लगेगी। यज्ञ से

वायु शुद्धि होती है अथवा नहीं, इस सवाल के झमेले में पड़ना अनावश्यक है। क्योंकि यज्ञ एक धार्मिक क्रिया है और किसी धार्मिक क्रिया के संबंध में इस सवाल पर विचार करना बिल्कुल अप्रस्तुत है कि उससे वायु शुद्धि जैसा तुच्छ फल प्राप्त हो सकता है या नहीं, और वायु शुद्धि की दृष्टि से आज भौतिक शास्त्र का आधुनिक ज्ञान, हमें अच्छी मदद दे सकता है। शास्त्रों के सिद्धांत व्यवहार से पृथक वस्तु हैं। सिद्धांत सर्वकाल और सर्वस्थान पर एक ही होते हैं। क्रियाएँ काल और स्थान के अनुसार बदलती रहती हैं।

'यज्ञ' अर्थात परोपकार के उद्देश्य से प्रेरित होकर मनपूर्वक किया गया कोई भी शारीरिक कार्य। जो शरीर से सर्वथा अशक्त है, वे अपने मानसिक बल से अनेक प्रकार की सेवा कर सकते है, और यह अवश्य यज्ञरूप माना जाएगा। 1

उपवास

मुझे वैयक्तिक रूप से प्रायश्चित करना होगा। मुझे एक ऐसा संवेदनशील उपकरण बनना है, जो आस–पास के नैतिक वातावरण में होने वाले सूक्ष्मतम परिवर्त्तन को स्पष्ट रूप से प्रकट कर सके। मेरी प्रार्थनाओं में उससे कहीं अधिक गहरी सच्चाई तथा नम्रता होनी चाहिए, जितनी कि उनसे अभी प्रकट होती है। मेरे लिए तो उपवास तथा उसके साथ, आवश्यक मानसिक सहयोग के समान सहायक एवं शुद्ध करने वाला कोई उपाय नहीं है।

मैं जानता हूँ कि मानसिक प्रवृति ही सब कुछ है। जिस प्रकार प्रार्थना पक्षी की चहचहाट के समान केवल यांत्रिक स्वर विन्यास हो सकता है, उसी प्रकार उपवास भी शरीर को दिया जाने वाला एक यांत्रिक कष्ट हो सकता है। इस प्रकार के यांत्रिक उपाय का वांछित उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई महत्व नहीं हैं।

किन्तु जब पूर्णतर आत्म प्रकाशन के लिए तथा शरीर पर आत्मा का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उपवास किया जाता है, तब वह संबंधित व्यक्ति के विकास में अत्यधिक शक्ति शाली सिद्ध होता है।

मेरा उपवास पूर्णतः आध्यात्मिक उद्येश्य के लिए है। बुद्धि में जो मुझसे ज्यादा हैं, उनके सामने में कैसे टिक सकता हूँ? किन्तु जहाँ सवाल हृदय की प्रतीति का है, वहाँ मैं उनके विरूद्ध खड़ा रह सकता हूँ, क्योंकि उसमें संस्कृत भाषा के गहरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। गरीबों के सौभाग्य से ईश्वर का निवास हृदय में है और मैं यह उपवास हृदय की शुद्धि के लिए कर रहा हूँ।

आत्मसंयम भगवत्कृपा के बिना अलभ्य है। जब कोई उपवास करता है, तो इन्द्रियों का निग्रह करता है। तब उस अवधि के लिए इन्द्रियों का प्रभाव स्थगित तो रहता है, किन्तु लालसा नहीं मिटती। लालसा तो ईश्वर साक्षात्कार से ही मिटती है।

यदि उपवास करने वाले मनुष्य का उद्देश्य सचमुच आत्मिक उत्कर्ष न हो, तो उसका मनुष्य की आत्मा पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता।

मैंने अपना भाग्य जन साधारण के साथ जोड़ दिया है और मुझे सदा उनके जरिए काम लेना है और वे केवल एक ही भाषा समझते हैं—हृदय की भाषा, और उपवास जब बिल्कुल निःस्वार्थ होता है, तो वह हृदय की भाषा होती है।

मेरी राय में उपवास का यह उत्तम अंत करोड़ो की प्रार्थना का परिणाम है मैं अपने इन करोड़ों देशवासियों को पहचाने का दावा करता हूँ। चौबीस घंटे मैं उनके साथ रहता हूँ। मैं और किसी ईश्वर को नहीं सिर्फ उस ईश्वर को मानता हूँ, जिसका निवास करोड़ों मूक हृदय में है। वे लोग ईश्वर की मौजूदगी नहीं पहचानते। मैं पहचानता हूँ और मैं इन करोड़ों की सेवा द्वारा सत्यरूपी ईश्वर की या ईश्वर रूपी सत्य की पूजा करता है।

आध्यात्मिक उपवास का औचित्य उसके परिणाम से नहीं सिद्ध होता है, बल्कि जिस प्रभु की इच्छा से वह अभिव्यक्ति होती है, उसकी इच्छा को निस्संकोच और प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने से सिद्ध होता है। 1

मोक्ष

आत्मा जब शरीर के बंधन से मुक्त हो जाए, तब कहा जा सकता है कि उसे मोक्ष प्राप्त हो गया। मोक्ष की स्थिति कैसी होती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह इन्द्रिय गम्य नही है। वह केवल अनुभव की जा सकती है। प्रेत आदि योनियों का मतलब है दुष्ट, योनियाँ और जो दुष्ट कार्य करते हैं, वे उन योनियाँ में जाते हैं।

(1910 ई. में)—मैंने मोक्ष प्राप्ति की परीक्षा अभी पार नहीं की। अपने सभी मनोविकार मैंने अभी नहीं जीते। अभी स्वादेन्द्रिय को जीत लिया है, ऐसा नहीं माना जा सकता। मेरी यह कहने की भी शक्ति नहीं है, कि किसी भी हालत में विषयोन्द्रिय मेरे वश में ही रहेगी। स्त्री—पुत्रादि और कुटुम्ब के प्रति मेरी आसक्ति अभी बिलकुल क्षीण नहीं हुई है। मेरे विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रयत्न कर रहा हूँ।

आकांक्षा मोक्ष की हो सकती है, परंतु मोक्ष माँगने से नहीं मिलता, उसके लिए योग्यता चाहिए।

जो सत्य को जानता है। मन, वचन और काया से सत्य का आचरण करता है, वह परमेश्वर को पहचानता है। इससे वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। उसे इसी देह में मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष है। एक हिन्दू होने के नाते मैं मानता हूँ कि मोक्ष का अर्थ अन्य बंधनों सें मुक्ति पाना है, शरीर के बंधनों को तोड़कर ईश्वर में लीन हो जाना है।

जिसे भय लगता है जो संग्रह करता है, जो विषय में रत है वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा। लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसा के मानी है मोक्ष और मोक्ष सत्यनारायण का साक्षात्कार है।

ईश्वर ने जो शरीर दिया है वह बंदीघर भी है और मुक्ति का द्वार भी और यदि हमें इसका उपयोग मुक्ति के द्वार के रूप में करना है, तो हमें इसकी मर्यादा समझनी चाहिए। हमारी इच्छा आकाश के तारों को अपनी बाँहों में समेट लेने की भले ही हो, लेकिन हमें समझना चाहिए कि हमें वैसी शक्ति नहीं है। क्योंकि हमारी आत्मा पिंजरे में बंद है, उसके पंख कटे हुए हैं और वह जितना ऊँचा उड़ना चाहती हैं, उतना ऊँचा नहीं उड़ सकती। इसमें अनेक सिद्धियों को प्राप्त करने की शक्ति है। लेकिन वह सिद्धियाँ प्राप्त करने के प्रयत्न में मुक्ति को खो बैठती है।

मैं तो रोज यही अनुभव कर रहा हूँ कि मनुष्य बहुत पराधीन है। उसे स्वतंत्रता केवल मोक्ष प्राप्त करने की है। इसके अतिरिक्त वह जो भी करता है उससे उसकी पराधीनता के बंधन दृढ़ ही होते हैं।

जो कर्म निष्काम भाव से नहीं किया जाता, वह बंधनकारी बन जाता है, फिर कोई भी व्यक्ति प्रकृति के सार्वभौम नियमों का पालन करते हुए अकर्मा बनकर तो रह ही नहीं सकता, कर्म तो उसे करना ही होता है। इसलिए मुक्ति का केवल एक ही मार्ग है और वह भगवान के चरणों में सर्मपण की भावना से निष्काम यज्ञ करना।

सबसे बड़ा प्रयास है मोक्ष का प्रयत्न। मोक्ष का अर्थ है अंह की पूर्ण समाप्ति। हर व्यक्ति के शरीर में मेरा निवास है पहला कदम है इस तीव्र अनुभूति की कि जब दूसरे दुखी है—तो मैं भी दुखी हूँ तथा जब दूसरे प्रसन्न है, तो मैं भी प्रसन्न हूँ। जब ऐसा होता है तो अंह का अस्तित्व बिल्कुल नहीं रहता। अशांति के मध्य मुझे शांति मिलती है और इसकी अनुभूति होती है।

सत्य, अहिंना और ब्रह्मचर्य का पालन मोक्ष प्राप्त करने का साधन है।

मोक्ष का अर्थ है सभी कार्यों का निःशेष होना, इसका अर्थ है अंह का शेष न होना और यह तभी संभव है जब फल की इच्छा को भस्म कर दें।

1

अन्तरात्मा

यदि मन शुद्ध हो और आदमी को अपनी ईमानदारी का भरोसा हो तो एकमात्र विश्वसनीय मार्गदर्शक अन्तरात्मा है। हम अक्सर स्वयं को धोखा देते हैं।

जीवन में कभी—कभी ऐसे अवसर भी आते हैं, जब हमें उस आवाज के निर्देश का पालन करना पड़ता है, जो सबसे ऊपर है, वह आवाज है, अन्तरात्मा की आवाज और उसके निर्देशों के पालन में यदि हमे दुख के कितने ही आँसू बहाने पड़े, बंधु बांधव का साथ छोड़ना पड़े, जन्मभूमि का त्याग करना पड़े, तब भी पालन करना ही पड़ेगा।

जो व्यक्ति अन्तरात्मा की आवाज को प्रथम स्थान नहीं देता, वह मनुष्यता से गिर जाता है और उसकी कीमत कौड़ी की हो जाती है। अन्तरात्मा की आवाज सबको सुनाई नहीं देती, यह बात हमें समझ लेनी चाहिए। अन्तरात्मा की आवाज मननशील, विवेकी नम्र, आस्तिक और संयमी को ही सुनाई देती है। मैं मनन, विवेक अथवा नम्रता से शून्य नहीं हूँ, आस्तिक तो हूँ ही। संयम का पालन करने का पूरा प्रयत्न करता हूँ। इससे मैं मानता हूँ कि मुझे अन्तरात्मा की आवाज सुनाई देती है। सब लोग मेरी तरह अन्तरात्मा की आवाज सुन सकते हैं और जो इस आवाज को सुन पाता है, उसे बहुत बड़ा सहारा प्राप्त हो जाता है।

मैं इस बात को मानता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य ऐसी मंगलमय, अवर्णनीय, पापरहित अवस्था को प्राप्त कर सकता है कि उसके

अपने अन्तःकरण में किसी अन्य को नहीं वरन केवल एक परमात्मा की उपस्थिति अनुभव कर सकता है और मुझे मंजूर करना चाहिए कि वह अवस्था मुझसे दूर हैं।

तुम और मैं—हम सब ईश्वर के अधीन हैं। हमें तो जो कुछ करने के लिए हमारी अन्तरात्मा कहे, वह काम कर डालना चाहिए। इसके बाद परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता हम क्यों करें?

मुझे तो इस संसार में केवल एक ही मित्रता निबाहना बहुत जरूरी मालूम होता है—यदि मुझे उसकी नाद सुनाई पड़े और मुझे लगे कि सारी दुनिया की मित्रता छोड़ देनी चाहिए तो मैं उसके लिए तैयार हूँ।

अन्तरात्मा की आवाज का अर्थ—दैवी संदेश और आसुरी संदेश दोनों हो सकता है। क्योंकि मनुष्य के हृदय में दैवी और आसुरी शक्तियों का संघर्ष होता रहता है। मनुष्य के कार्यों से ही यह पता चल सकता है कि अन्तरात्मा की आवाज दैवी है या आसुरी है।

अन्तरात्मा का आदेश किसे कहा जाए? क्या यह सबको हो सकता है? ये दो प्रश्न हैं। यह आदेश तो सभी को होता ही है। मगर जैसे बहरा आदमी मधुर से मधुर संगीत भी नहीं सुन सकता और जो संयमी नहीं है, उसके कान इस आदेश को सुनने को खुलते ही नही। जिसमें गीता के दूसरे अध्याय में कहे गए स्थितप्रज्ञ या बारहवें अध्याय में कहे गए भक्त के या चौदहवें अध्याय में वर्णित गुणातीत के लक्षण हों या जिसमें इन तीनों का सम्मिश्रण हो, उसी में अन्तरात्मा का आदेश सुनने की योग्यता हो सकती है।

मुझे मार्ग निर्देश परमात्मा से प्राप्त होता है। किन्तु अवचेतन बुद्धि परमात्मा की आवाज हो सकती है। अक्सर मार्ग देख लेने के बाद मैं बुद्धि पूर्वक यह समझने की कोशिश करता हूँ कि वही सबसे अच्छा रास्ता क्यों हैं?

अन्तरात्मा की आवाज पर चलने से गूढ़ अनुभव हो सकते है और नहीं भी हो सकते। लेकिन एक चीज निश्चित है और वह यह

कि गूढ़ अनुभवों के लिए मनुष्य में ऐसी विनम्रता का होना आवश्यक है कि वह परमात्मा के सामने अपने को बिल्कुल तुच्छ समझे। मेरी दृष्टि में अन्तरात्मा की आवाज पर चलने का मतलब एक जीवन्त शक्ति का अनुसरण करना है।

अंतरात्मा की आवाज सुन पाने के लिए मनुष्य के मन का तालमेल प्रेम, सत्य, पवित्रता, अपरिग्रह और निर्भीकता, इन पाँच नियमो से सदा बना रहना चाहिए।

मेरे जीवन की एक घटना है जब मैंने 21 दिन का उपवास किया था, तो रात में जब मैं सोने गया तब मुझे ख्याल तक भी नहीं था कि मैं कल सवेरे 21 दिन के उपवास की घोषणा करने जा रहा हूँ। लेकिन आधी रात को एक आवाज ने मुझे जगा दिया और कहा उपवास करो, कितने दिन का मैंने पूछा। उत्तर मिला 21 दिन का। मैं आपसे कहता हूँ कि उपवास के लिए मेरा मन तैयार नहीं था, मेरा इधर झुकाव भी नहीं था, पर यह चीज मेरे सामने बहुत स्पष्ट होकर आई।

अन्तर्नाद के श्रवण के लिए उस व्यक्ति में सुनने की पात्रता होनी चाहिए और ऐसी पात्रता धीरज के साथ ईश्वर की सतत आराधना करने के बाद ही प्राप्त होती है। शंकराचार्य ने इस प्रयत्न की तुलना तृण की नोंक से समुद्र उलीचने के प्रयत्न से की है। इस प्रकार यह क्रम अनंत है और जन्म—जन्मांतर चलता रहता है।

अन्तरात्मा की आवाज ईश्वर की आवाज है। वह हमारी आवाज नहीं है। यह आवाज ईश्वर की भी हो सकती है शैतान की भी। ईश्वर हमारे द्वारा बोले, इसके लिए हमें यम नियम का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। करोड़ों मुनष्य अन्तरात्मा की आवाज का दावा करें तो भी सच्ची अन्तरात्मा की आवाज एक को ही होगी। इसका सबूत नहीं दिया जा सकता पर उसका असर पड़ सकता है। अन्तरात्मा की आवाज हमसे बाहर का बल है। किन्तु वह बाह्य बल नहीं है। हमारे बाहर का बल यानि अहंकार से बाहर का बल है। अहंकार जब सोया होता है तब उसपर दो बल काम करते हैं—सत और असत।

जब हम सत बल के साथ तदाकार हो जाते हैं तब गूढ़ भाषा में यह कहा जाता है कि ईश्वर हमारे जरिए बोल रहा है। हम सत् के साथ इतने तदरूप हो जाते है कि हमारा अहं शून्य हो जाता है।

अन्तरात्मा की आवाज सुनने का दावा करना तो उस आदमी पर निर्भर है। उसे जब यह अनुभव हो जाए कि वह स्वयं काम नहीं करता, तब वह ऐसा कर सकता है। मान लीजिए कि मैं अन्तरात्मा की आवाज सुनने का हमेशा प्रयत्न करूँ, सदा ईश्वर से प्रार्थना करूँ, तू मेरे जरिए काम कर और शून्य बना दे, तो ऐसा क्षण आ सकता है, जब मुझे यह लगे कि ईश्वर मुझे अपनी आवाज सुना रहा है। उस समय मै यह कहूँगा भी कि मैं ईश्वर की आवाज सुन रहा हूँ। किन्तु इसे मैं सिद्ध कैसे करूँ? यह तो मेरे आचरण से ही सिद्ध होगा। किन्तु वह भी अंतिम कसौटी नहीं है। दुनिया तो परिणाम से मेरा न्याय करेगी। यदि परिणाम अच्छा हुआ तो दुनिया कहेगी कि यह चमत्कार हुआ। किन्तु असल में इसमें अंतिम प्रमाण कुछ नहीं है। मनुष्य कब आत्मवंचना करता है और कब दंभी बनता है, यह वह स्वयं नहीं जानता। आत्मवंचना दंभ से भी ज्यादा खतरनाक है। [1]

अनासक्ति

कुछ भी मेरा है, यह मेरा दावा नहीं है मेरे पास जो कुछ भी है वह लोक सेवा में लगाया जा रहा है। मेरी आकांक्षाएँ अब ज्यादा ऊँची हैं और मुझे किसी किस्म की दुनियायी सुख भोग की इच्छा बिल्कुल नहीं है।

स्नेहियों के प्रति वीतराग स्थिति उत्पन्न हो जाए, तभी हृदय सचमुच दयावान बनता है और स्नेहियों की सेवा करता है।

आत्म ज्ञान बिना सच्ची आसक्ति नहीं हो सकती, यह बात बिल्कुल सच है। अनासक्ति में अज्ञान, निर्दयता और उदासीनता का समावेश

कभी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति सचमुच अनासक्त है उसका काम आसक्त मनुष्य के काम से बहुत ज्यादा सुन्दर और सफल होता है।

अनासक्ति अर्थात आसक्ति का अभाव, आसक्ति अर्थात किसी फल की इच्छा।

योग–अनासक्ति पूर्वक किया गया काम।

मैंने अनासक्ति कैसे साधी? मेरा सब काम स्वाभाविक होने से यानि सत्य की साधना से स्फुरित होने के कारण हो गया । जगतभर की सेवा करने की भावना उदित हो जाने पर अनासक्ति सहज ही आ जाती है। मैं अगर सिर्फ कुटुम्बियों की ही सेवा करने बैठ गया होता तो उसमें सहज ही राग पैदा हो जाता–आसक्ति भी रहती व्याधि, मृत्यु वैगरह की चिन्ता भी रहती, मगर जहाँ असंख्यों की सेवा अपना ली जाती है, चिन्ता मिट ही जाती है।

जब मैं मनुष्य को ऐसे नश्वर पदार्थों के प्रति पूरे मन, प्राण से आसक्त देखता हूँ, जो क्षणभर में नष्ट हो गए, तो मन में सोचता हूँ कि यह परिस्थिति की कैसी विडम्बना है? मैं समझ सकता हूँ कि ऋषि मुनियों ने क्यों अनासक्ति की शिक्षा दी और क्यों उन्होंने समस्त आसक्ति, सुविधा और विलास का त्याग किया। अब गजेन्द्र मोक्ष की कथा स्पष्ट होकर मेरे सामने है। भगवान से जलमग्न हाथी अपनी सूढ़ उठाकर टेर लगा रहा है, भूकंप पीड़ितों को भी भगवान से प्रार्थना करनी है, विनम्र बनना है, अपने अंतर को टटोलना है ताकि इस निराशा के बीच आशा की किरण पहुँचे।

हमेशा वैसा ही तो नहीं होता जैसा हम चाहते हैं। लेकिन हम उनके प्रति अनासक्त दृष्टि बराबर रख ही सकते हैं। हमें तो प्रतिदिन अपने हिस्से का काम करना है और उसी में आनन्द का अनुभव करना है। शांति पाने का और कोई रास्ता नहीं है।

हमारी इन्द्रिया जो कुछ देखती है, वह सत्य ही है, ऐसी बात नहीं अक्सर तो वे असत्य ही देखती हैं, इसलिए अनासक्ति का मार्ग ढूँढा गया। अनासक्ति अर्थात इन्द्रियों से परे जाना। यह तो उनमें रहने वाली

आसक्ति को छोड़ने से हो सकता है। आँख का प्रमाण मानें तो पृथ्वी समतल ही सिद्ध होगी न? सूरज सोने की थाल के सिवा क्या है?

गीता की अनासक्ति का जो अर्थ है उससे मेरी अनासक्ति कम है—मैं भावनाओं से भरा हुआ हूँ, हर किसी के दुख से दुख होता है।

अनासक्ति से मेरा मतलब यह है कि किसी काम का वांछित परिणाम निकले या नहीं उस कार्य का हेतु यदि शुद्ध है और साधन सही है तो फिर मनुष्य को चिंता नहीं करनी चाहिए। वास्तव में इसका मतलब यह है कि यदि मनुष्य साधन का ध्यान रखे और बाकी सब कुछ ईश्वर पर छोड़ दे तो अंत में सब कुछ ठीक होगा।

सामान्यतः कहें तो प्रकृति के नियम का जाने—अनजाने हर उल्लंघन जैसे—क्रोध, बदमिजाजी, अधैर्य, दाम्पत्य जीवन की भूलें—अपनी कीमत अवश्य वसूल करता है, लेकिन यह माना जा सकता है कि यदि मनुष्य पूर्ण अनासक्ति प्राप्त कर ली है, तो वह इन सबके असर को मिटा सकता है।

कोई भी अच्छा काम एक दिन में खत्म नहीं होता। यदि कोई काम एक दिन में होता है, तो उसकी कोई कीमत भी नही होती। इसलिए हमें धैर्य सीखना है और धैर्य सीखने के लिए अनासक्ति की साधना करनी है। अनासक्ति के मूल मे यह निहित है कि अच्छाई का परिणाम अच्छा ही होता है। ऐसा दृढ़ विश्वास होने पर हमें परिणाम के बारे में निश्चिन्त रहना चाहिए। कल सूर्य अवश्य उदय होगा यह मानकर हम निश्चिन्त रहते हैं। इससे भी गहरी निश्चिन्तता अच्छे काम के बारे में है। ऐसा तो एक दिन अवश्य आएगा जब सूरज नहीं उगेगा, किन्तु जहाँ तक शुभ कार्य का संबंध है, उसका शुभ परिणाम न निकले ऐसा अवसर आ ही नहीं सकता।

भौतिकता के गुणों से विरक्त हो जाने के बाद मैं यही समझता हूँ कि मुझे शरीर आत्म—नियंत्रण के लिए मिला है और किसी विषय का चिंतन नहीं किया जाना चाहिए। शारीरिक सुखों के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं रहनी चाहिए। 1

अवतार

कृष्ण, राम आदि अवतार थे। किन्तु हमारे पुण्य भी यदि उसी कोटि के हो तो हम भी उन जैसे हो सकते हैं। जो आत्मा मोक्ष प्राप्ति की सीमा पर पहुँच गई है, वह अवतार रूप है। किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं कि उसने अपने इसी जन्म में संपूर्णता प्राप्त कर ली है।

श्री कृष्ण, राम, बुद्ध, ईसा आदि में कौन बड़े हैं, यह कहना कठिन है। हर एक का कार्य भिन्न था और हर एक ने अपना कार्य एक भिन्न काल में और भिन्न परिस्थिति में किया। उनका वर्णन भक्तों ने अपनी—अपनी बुद्धि के अनुसार किया है। श्रीकृष्ण को वैष्णवों ने पूरी कलाओं से युक्त माना है और मानना भी चाहिए। उसके बिना अनन्य भक्ति नही उपजती। हिन्दुस्तान में अवतारों में श्री कृष्ण अंतिम थे इसलिए उनकी विशेष महिमा गाई गई है।

ईश्वर नहीं है ऐसा कहने से लोगों के मार्ग भ्रष्ट हो जाने का भय है। क्योंकि तब उन्हें यह भी कहना पड़ेगा कि आत्मा नहीं है। अवतार की आवश्यकता है और हमेशा रहेगी। ऐसा माना जात है कि जब लोगों में बहुत निराशा फैल जाती है और अनीति का प्रसार होता है तब अवतार होता है। दुष्ट लोगों के समाज में सर्वमान्य नीति का पालन करने वाले चन्द लोग अपने लिए भगवान से सहायता की याचना माँगते हैं।

श्रीकृष्ण की लीला तो श्रीकृष्ण ही जानते हैं। वे यदि कामनापूर्वक भी कुछ करते हैं तो भी हम स्थूल देहधारी प्राणी वैसा नहीं कर सकते। उनकी प्रभुता उन्हें नियमों के बंधन से छूट देती है, हम ऐसी छूट नहीं ले सकते। इसके सिवा यह भी याद रखनी चाहिए कि श्रीकृष्ण के विषय में भागवतकार ने अपनी ज्ञान सीमा के अनुसार ही लिखा है। श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता।

परमात्मा अपने त्रिगुणातीत रूप में तो भली या बुरी कोई प्रवृति नहीं करता। किन्तु माया चैतन्य रूप में है। परमात्मा तो तीनों गुणों से अतीत है किन्तु वह अर्जुन को ज्ञान देने की प्रवृति का आचरण करता है। उस समय उसकी इस प्रवृति के मूल में सात्विक वृति हैं।

राम कौन हैं ? राम तो निरंजन हैं, निराकार हैं। राक्षसी वृतियों का समूह रूपी जो रावण है, दैवीय वृतियों के अनेक शस्त्रों द्वारा उसका संहार करने वाली शक्ति ही राम है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए स्वयं राम को भी 12 वर्ष की तपश्चर्या करनी पड़ी।

श्रीकृष्ण को हम मनुष्य न मानकर यदि एक महान तत्व शक्ति मानें तो सब शंकाएँ नष्ट हो जाती हैं यदि वे काल्पनिक चरित भी हैं तो भी वे हमारे हृदय में इतनी दृढ़तापूर्वक विराजमान हैं कि वे हम जितने साकार हें उससे कहीं अधिक साकार हैं।

श्रीकृष्ण को शायद मैं इन लेखकों से ज्यादा जानता हूँ पर मेरा कृष्णा जगनायक, अखिल विश्व का स्रष्टा, संरक्षक और संहारक है। वह संहार भी कर सकता है क्योंकि वह उत्पति करता हैं।

श्रीकृष्ण का नाम बीच में घसीटना फिजूल है। यदि हम उन्हें मानते हो तो हम उन्हें साक्षात ईश्वर मानें अथवा फिर बिल्कुल न मानें। यदि मानते हैं तो फिर हम उनमें सर्वज्ञता और सर्वशक्ति मत्ता होना मानते है। ऐसी शक्ति अवश्य संहार कर सकती है। फिर हम तो ठहरे पामर, मर्त्य। हम हमेशा भूलें करते रहते हैं और अपने विचार और रायें बदलते रहते हैं यदि हम गीता के गायक कृष्ण की नकल करेंगे तो हम घोर विपत्ति में पड़ेंगे।

श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान ईश्वर कर्त्ता, भर्त्ता और संहर्त्ता है और उसे ऐसा ही होना चाहिए। इस विषय में तो कोई शंका उत्पन्न न होगी। जो उत्पन्न करता है, वह उसका नाश करने का अधिकार अपने पास रखता है। फिर भी वह किसी को नहीं भारता क्योंकि वह अकर्त्ता है, वह कुछ भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, मरने के लिए जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियम को नहीं

तोड़ता यह उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी बन जाए तो हम सब कहाँ जाएँगें ?

अवतार का अर्थ है—शरीर धारी विशिष्ट पुरूष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परंतु लौकिक भाषा में हम सबको अवतार नहीं कहते। जो पुरूष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान पुरूष होता है, उसे भविष्य की प्रजा अवतार के रूप में पूजती है। इससे न तो ईश्वर की महत्ता को लांछन लगता है और न सत्य को इससे आघात पहुँचता है। आदम खुदा नहीं लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं। जिस पुरूष से अपने युग में सबसे अधिक धर्म जागृति होती है, वह विशेषावतार माना जाता है। इन विचार सारिणी के अनुसार आज हिन्दू धर्म में कृष्ण रूपी परिपूर्ण अवतार चकवर्ती सम्राट हैं।

करोड़ों लोग जिस राम की पूजा करते हैं, वह राम घट—घट व्यापी है। रावण भी हमारे ही शरीर में रहने वाले दस सिर वाले विकराल विकारों का रूप है। उसके खिलाफ अन्तर्यामी राम सदा युद्ध करता है। वह तो दया की मूर्ति है। अगर किसी ऐतिहासिक राम ने किसी ऐतिहासिक रावण से युद्ध किया भी है तो उससे हमें बहुत कुछ सीखने को नहीं मिलता। इन प्राचीन राम—रावण को खोजने की क्या जरूरत है ? आज तो वे जहाँ—तहाँ मिलते ही रहते है। सनातन राम ब्रह्म स्वरूप हैं, सत्य और अहिंसा की मूर्ति हैं।

सत्य और अहिंसा सर्वव्यापक सिद्धांत या तत्व है। उपासना मनुष्यकृत एक आवश्यक प्रचण्ड साधन है। इसलिए वह देशकाल से परिमित है और उसमें विविधता रहती है, रहना आवश्यक भी है। उसका अंतिम निचोड़ तो एक ही है। जैसे कहा भी है कि सब नदियों का पानी जिस तरह समुद्र में गिरता है, उसी तरह सब देवों के प्रति की गई वंदना, किया गया नमस्कार, मात्र केशव को पहुँचता है।

कहा जाता है वेद केवल 'ऊँ' का विस्तार है। गोसाई तुलसीदास कहते हैं राम ही ओम है, राम ही वेद है। सब कुछ उसी में है, सब वही है और कुछ नहीं है। लेकिन लौकिक राम दशरथ नन्दन हैं।

मेरा राम दशरथनंदन है सही लेकिन वह उससे भी बहुत अधिक है। वह सच्चिदानन्द पूर्ण परब्रह्म है। परमभक्त तुलसीदास ने ध्यान किया और ध्यानपन में निरंजन, निराकार, सर्वव्यापक राम को पाया। परिणाम में अवतारवाद के रहस्य को हम और अधिक समझने लगे। इस प्रकार पाषाण शिला से लेकर परमाणु तक चले जाइए तो मूर्ति ही नजर आती है और परमाणु में भी परमात्मा छिपा हुआ पाया जाता है। इस दृष्टि से सारा जगत प्रतिमा पूजक है।

श्री कृष्ण तो दासानुदास थे और अतंद्रिक, आलस्यरहित होकर निरंतर सेवा कार्य में तन्मय रहते थे। कोई कार्य उनके लिए छोटा नहीं था। उनकी सच्ची पूजा उनकी सेवा के अनुकरण से ही हो सकती है। 1

मंदिर

कैसी अद्‌भुत है ऋषियों की रचना और हमारे पूर्वजों का सौन्दर्य बोध। यहाँ हिन्दुस्तान की सीमा और दुनिया के एक छोर पर ऋषियों ने कन्याकुमारी के मंदिर की स्थापना की और हमारे पूर्वजों ने उसे रंग भर सजाया है। वहाँ मुझे सृष्टि के सौन्दर्य का रस लूटने की इच्छा नहीं हुई–यद्यपि वहाँ वह रस लबालब भरा हुआ था। मैंने तो वहाँ धर्म के रहस्यामृत का पान किया। उस पहाड़ी रूपी द्वीप पर अपार शांति थी। समुद्र की लहरों का मंद और मधुर संगीत समाधि में सहायक होता है। इसलिए मेरी धर्म चिन्तन की इच्छा तीव्र हो गई। मुझे वहाँ बैठकर गीता पाठ करने की इच्छा हुई, लेकिन अंत में मैनें उस पवित्र इच्छा को भी दबा दिया और उस गीताकार का मन ही मन स्मरण करके मैं शांत बैठा रहा।

जहाँ मस्जिद, मंदिर और गिरजे, का सैकड़ों पाखंडियों ने दुरूपयोग किया है। वहाँ करोड़ों ने उनका सदुपयोग भी किया है। कल्पना करें कि एक–एक गिरजे, एक–एक मंदिर और एक–एक मस्जिद को

कोई सुधारक एक दिन के भीतर जमीदोज कर दे, तो फिर विचार करो भोले–भाले मनुष्यों का, जिन्हें इस संसार में रोज इन मंदिरों और मस्जिदों से आत्म संतोष मिलता था, यह जानकर क्या हाल होगा कि वे एकदम खत्म हो गए हैं। मैं तो इस चीज का जो अनुभव करता हूँ कि नापाक से नापाक मंदिरों में भी पाक दिल से जाने वाले भक्तों को ईश्वर के दर्शन जरूर होते हैं। यही उसकी अजीव कुदरत है, या यों कहिए कि यही उसकी माया है।

मैं मानता हूँ कि कुछ पुजारी बुरे हैं। मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों में अक्सर विकृति दिखाई देती है। अवनति तो उससे भी ज्यादा दिखती है। तथापि यह सिद्ध करना असंभव होगा कि सभी पुजारी बुरे हैं, या रहे हैं और यह कि सभी मंदिर, मस्जिद और गिरजे भ्रष्टाचार और अंधविश्वास के धाम हैं। इस तर्क सारिणी में इस मूल बात पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया है कि किसी धर्म का काम बिना आवास के आज तक नहीं चला है, मनुष्य शरीर ही परमात्मा का घर कहा गया है और यह सही भी है। यद्यपि ऐसे अनेक मंदिर इस तथ्य को झूठलाते हैं और भ्रष्टाचार के ऐसे अड्‌डे बने हुए हैं जिनका उपयोग दुराचार और लंपटता के लिए किया जाता है। कुछ शरीर ऐसे भी हैं, जो ईश्वर के सच्चे आवास हैं तो यह कैसी अतिव्यक्तिपूर्ण उक्ति होगी कि चूँकि बहुत से शरीर भ्रष्टाचार के अड्‌डे हैं इसलिए सबको नष्ट कर देना चाहिए।

मेरी दृष्टि में मंदिर में जाकर पूजा उपासना करना कोई अंधविश्वास नहीं था। बल्कि मेरा अनुभव है कि जो श्रद्धा लाखों मनुष्यों को प्रेरित करके मंदिरों में ले जाती है, उसमें कहीं कोई पुनीत और सत्य का तत्व अवश्य विद्यमान है।

मन में भक्ति भीरूता और यथोचित श्रद्धा के भाव को लेकर मैंने मंदिर में प्रवेश किया। कौतूहल का भाव मिट चुका था और उसका स्थान वर्षों की रिक्तता को भरने के लिए जो कुछ होने जा रहा था उसके बोध ने लिया।

प्रत्येक मंदिर उस अदृश्य, अलख और वर्णनातीत शक्ति ईश्वर से इस अगाध सृष्टि सागर में तुच्छ बूँदों के समान पड़े हम मानवों का संबंध जोड़ने वाला महासेतू है।

यह विशाल मैदान ही वस्तुतः भगवान का श्रेष्टतम मंदिर है। छत के लिए आपके पास नीला आकाश है, जिसके नीचे गरीब और अमीर में मालिक और नौकर में, लखपति और मजदूर, हिन्दू, मुस्लिम सिख, ईसाई अथवा पारसी में कोई भेद नहीं है। छत के रूप में आकाश और फर्श के रूप में धरती माँ जो हजारों लोगों को शरण दे सकती है।

आपके सामने एक ऐसा कला मंदिर है, जिसके समान दूसरा मैंने संसार में कहीं नहीं देखा है। भारत का यह रूप विलक्षण है।

थोड़े बहुत मंदिर बनवाना तो अच्छी चीज है, लेकिन संभव है, इस तरह जरूरत से ज्यादा बन जाए। ऐसा सोचना एक भयंकर अंधविश्वास है कि हमारे एक ऐसा भवन बनवा देने से, जिसे मंदिर कहा जाता है, भगवान उसमें निवास करने ही लगते हैं। मैं आपसे कहता हूँ कि मैं भारत में ऐसे बहुत से मन्दिरों को जानता हूँ जहाँ उसी प्रकार ईश्वर का निवास नहीं है, जैसे वेश्यालयों में नहीं होता।

हम सच्ची निष्ठा की भावना से जायें तो वहाँ शान्ति मिलती है। मंदिर में जाने वाले श्रद्धालु, मंदिर की मलिनता नहीं देखते, पुजारी का पाखंड नहीं देखते, मूर्ति के पत्थर को नहीं देखते। वे तो कोलाहल में भी शांति पा लेते हैं और शुद्ध होकर बाहर आते हैं। उस व्यक्ति को जिसका ऐसे कोलाहल से दम घुटता है, जो मूर्ति के पत्थर को पत्थर ही मानता है, दर्शन के लिए मंदिर नहीं जाना चाहिए। जो जिस रीति से ईश्वर का भजन करता है, उसे वह वैसा ही दिखाई देता है। क्योंकि वह बाहर नहीं सबके अन्तस में है। 1

भक्ति

श्रद्धा अर्थात भक्ति को दिव्य माता की उपमा दी गई है और दिव्य माता की संतान देवरूप होती है।

मानव देह को रत्न चिन्तामणि कह कर उसका गुणगान किया गया है। पशुदेह द्वारा जीव ज्ञानपूर्वक भक्ति नहीं कर सकता। जहाँ ज्ञानपूर्वक भक्ति नहीं हो वहाँ मुक्ति नहीं हो सकती और जहाँ मुक्ति नहीं वहाँ सच्चा सुख नहीं है और उसके बिना वास्तविक दुख का नाश भी संभव नहीं। इस शरीर का सदुपयोग हो अर्थात उसे ईश्वर का भवन बनाया जाए तो यह काम का है।

श्री रामचन्द्र प्रभु मुझे अपने से बहुत दूर के मालूम होते हैं। इसके विपरीत राम तो मेरे हृदय में राज्य कर रहे हैं। जहाँ मैंने राम, भरत आदि पवित्र नामों का प्रयोग किया है, वहाँ मेरी दृष्टि में तो मेरी भक्ति ही टपकती है। अगर ये वैष्णव भाई दावा करें कि राम के प्रति उनका प्रेम मुझसे ज्यादा है, तो मैं उन पर राम के दरबार में दावा करूँगा और राम–राज्य में न्याय मेरे पक्ष में होगा।

हनुमान ने जैसी प्रेम की परीक्षा दी थी वैसी ही परीक्षा देने की इच्छा मेरी भी होती है। जो प्रिय से प्रिय होता है, वह निकट से निकट रहता है। उसे तो 'तू' ही कह सकते है। तुम या आप से दूरी सूचित होती है। मैं अपनी माँ को तुम या आप कह देता वह रोती क्योंकि कि तब वह समझती कि उसका बेटा उससे दूर हो गया है।

मेरी जिन्दगी में एक ऐसा समय था, जब मैं राम को श्रीराम चन्द्र के रूप में पहचानता था। परंतु वह समय अब चला गया है। राम तो अब मेरे घर आ गए हैं। उन्हें अगर मैं तुम या आप कहूँ तो वे मुझपर रोष करेंगे। मेरे न माँ है, न बाप हैं और न भाई, ऐसा आश्रय विहीन हूँ मैं। मेरे तो अब राम ही सर्वस्व हैं। वही मेरी माँ, वहीं मेरा पिता, वही मेरा भाई और वही मेरा सर्वस्व है। मैं तो उसी के जिलाए जी

रहा हूँ सारी स्त्री जाति में मुझे वही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए मैं सभी स्त्रियों को माँ या बहन के बराबर मानता हूँ। मैं सभी पुरूषों में भी उसी को देखता हूँ इसलिए सबको अवस्था के अनुसार पिता, भाई या पुत्र की तरह मानता हूँ। मैं उसी राम को भंगी और ब्राह्मण में देखता हूँ, इसलिए दोनों का अभिवादन करता हूँ।

राम पास रहता हुआ भी शायद मुझसे दूर हो। इसीलिए मुझे उसको तू कहकर पुकारना पड़ता है। जब उससे मेरा चौबीसों घंटों तादात्म्य रहेगा तब तो मुझे उसे तू कहने की भी जरूरत न रहेगी। दूसरे लोग मेरी माँ के लिए तू का प्रयोग नहीं करते थे। वे तो अनेक आदर सूचक विशेषणों का प्रयोग करते थे। इसी तरह अगर राम मेरा न होता तो मैं जरूर अदब लिहाज रखता। परंतु वह अब मेरा है और मैं उसका गुलाम हूँ। इसलिए चाहता हूँ कि आप लोग उससे जुदा होने का बोझ मेरे सिर पर न रखें। जिस प्रेम के लिए शिष्टाचार की जरूरत हो क्या वह प्रेम है? तमाम भाषाओं और तमाम धर्मों में ईश्वर को तू सर्वनाम से ही संबोधित किया गया है।

सौभाग्य और शांति के इन दिनों में, जबकि मुझे ईश्वर की कृपा का अनुभव होता रहा है, मैं अक्सर एक भजन गुनगुनाता रहता हूँ। वह इतना भावपूर्ण है कि मैं अपनी प्रसन्नता का संवरण नहीं कर पाता। उस भजन के भाव ही मेरी स्थिति को प्रदर्शित करता है।

रघुवर तुमको मेरी लाज,
सदा–सदा मैं सरन तिहारी, तुम बड़े गरीब निवाज,
पतित उधारन विरद् तिहारो, श्रवणन सुनी आवाज,
हौं तो पतित पुरातन कहिये, पार उतारो जहाज,
अघ खंडन दुख भंजन जिनके, यही तिहारो काज
तुलसीदास प्रभु किरपा करिए, भक्ति दान हेतु आज।

जान पड़ता है मैं भी अपने प्रियतम से हाथ धो बैठा हूँ और ऐसा मालूम होता है कि मैं इधर–उधर भटक रहा हूँ। मुझे अनुभव तो ऐसा

होता है कि मेरा सखा निरंतर मेरे आसपास है, पर फिर भी वह मुझसे दूर प्रतीत होता है क्योंकि वह मुझे ठीक–ठीक राह नहीं दिखा रहा है और स्पष्ट निर्देश नहीं दे रहा है। बल्कि उल्टा गोपियों के छलिया नटखट कृष्ण की तरह वह मुझे चिढ़ाता है, कभी दिखाई देता है, कभी छिप जाता है और कभी फिर दिखाई दे जाता है।

भक्ति का अर्थ व्यवहार मूढ़ता नहीं। जिस भक्ति से व्यवहार मूढ़ता आए, वह भक्ति नहीं। यदि हमारे व्यवहार को देखकर जगत हमें मूढ़ कहे, तो यह अलग बात है। भक्त तो व्यवहार में सजग रहता हुआ भी उसमें भक्ति भर देता है। भक्त का आचार धर्मानुकूल होगा। भक्त को व्यवहार में कोई मुश्किल नहीं होगी।

भोग और ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला व्यक्ति व्यवसायत्मिका बुद्धिवाला हो ही नही सकता। जिसका चित्त पूर्ण रूप से निर्मल हो गया है, जिसका अंतर विकसित हो गया है, जागृत हो गया है और जिसका हृदय दर्पण की तरह स्वच्छ हो गया, उसी के स्वच्छ अन्तर में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इसमें से यदि कोई स्वर निकलेगा तो वह राम नाम का ही स्वर होगा।

मनुष्य स्वयं दौड़ भाग करके ईश्वर के मुख में जा पहुचना चाहता है। ज्ञानी मनुष्य वहाँ ज्ञानपूर्वक जाता है और कहता है– मुझे संसार की गुलामी नहीं, तेरी ही दासता स्वीकार करनी है। ईश्वर उसे अपने से जितना–जितना हटाता जान पड़ता है, वह उतना ही उसके अधिक पास जाता है। पलकें आँखों की रक्षा करती है, किन्तु रक्षा करने की इच्छा नहीं करती। वह तो अपने आप होता रहता है। उसी प्रकार ईश्वर और मनुष्य के बीच का संबंध स्वाभाविक संबंध है।

आठो पहर ईश्वर में लीन होते हुए भी वह व्यक्ति सामान्य मनुष्यों की तरह व्यवहार करता है, वह इस बात की डोडी पीटते हुए थोड़े ही निकलेगा कि मैं ध्यान में डूबा हुआ हूँ। गोपियाँ प्रेम में नाचती रहती है, क्योंकि वे जगत की निन्दा से नहीं डरती और इसका कारण यह है कि वे जानती हैं कि हमारा प्रेम शुद्ध हैं।

परमात्मा के दर्शन के लिए विकारशून्य होने की आवश्यकता है और जो विकार तब भी रह जाते है, उसका नाश दर्शन से सिद्ध हो जाता है। दर्शन कैसे हो ? इसका कोई बँधा बँधाया उपाय नहीं है। कोई तीसरा आदमी हमें उसका रहस्य नहीं बता सकता। सच पूछो तो शास्त्र और शास्त्रज्ञ दोनों ही केवल हमें अपने अनुभव सुनाते हैं। हममें श्रद्धा हो तो वे अपने अनुभव से हमें श्रद्धा जगाते हैं। किन्तु प्रयत्न तो हमें ही करना है। हमारी ओर से कोई तीसरा आदमी यह प्रयत्न नहीं कर सकता। इसीलिए मुझे अपने प्रयत्न एक क्षण भी नहीं छोड़ने चाहिए। परमात्मा का दर्शन ही परम पुरूषार्थ है। इसलिए इस दुनिया मे जिस–जिस वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जितने प्रयत्न, मनुष्य इच्छापूर्वक करता है, उन सारी वस्तुओं के लिए किए जाने वाले इन सब प्रयत्नों का जोड़ लगाइए और समझिए कि इन प्रयत्नों के योगफल से अगणित गुना प्रयत्न इस दर्शन के लिए हमें करना है। इतना प्रयत्न के बाद भी यदि दर्शन न हो तब जरूर किसी से पूछने का सवाल उठता है, तब भले अश्रद्धा के लिए अवकाश हो सकता है। किन्तु जब तक हम हम उतना प्रयत्न नहीं करते तब तक न तो हम श्रद्धा का त्याग कर सकते हैं और न प्रयत्न का।

मैं अतिशय नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मेरा उपवास और मेरा कष्ट–सहन ये दोनों ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करने की इच्छा का ही परिणाम है।

एक मनोरम भोर! शीतल और मेघाच्छादित जिसमें तंद्रिल सूर्य की किरणें ऐसी कोमल लगती हैं जैसे मखमल। यह भोर आश्चर्यजनक रूप से शांत है–उसमें प्रार्थना जैसी खामोशी छाई हुई है। कुहरा ऐसा प्रतीत होता है जैसे धूप का धुआँ हो, वृक्ष ध्यान मग्न पुजारियों की तरह लगते हैं और पक्षी भजन गाने के लिए आए हुए तीर्थयात्रियों के समान प्रतीत होते हैं। काश भगवान की भक्ति में तन्मय होने की कला हम प्रकृति से सीख सकते।

जब तक हम देह की दीवार के पार नहीं देख सकते, तब तक सत्य और अहिंसा के गुण हममें पूरे–पूरे प्रकट होने वाले नहीं है। जब सत्य के पालन का विचार करें, तब देहाम्यास छोड़ना ही चाहिए, क्योंकि सत्य के पालन के लिए मरना जरूरी होगा। अहिंसा की भी यही बात है। देह तो अभिमान का मूल है। देह के बारे में जिसका मोह बना हुआ है, वह अभिमान से मुक्त हो ही नहीं सकता। जब तक मेरे मन में यह विचार है कि देह मेरी है तब तक मैं सर्वथा हिंसा मुक्त हो ही नहीं सकता हूँ। जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है, उसे देह के पार जाना पड़ेगा, अपनी देह का तिरस्कार करना पड़ेगा, मौत से भेंट करनी पड़ेगी।

भगवान को मुनष्य केवल वचन से ही नहीं भजता किन्तु वचन से, मन से और तन से भजता है। तीनों में से अगर एक भी अनुपस्थित हो तो वह भक्ति नहीं है। तीनों का मेल रसायन के मेल के समान है। रसायन के मेल में अगर वस्तु की भी मात्रा में फर्क हो तो जो वस्तु बनानी है वह नहीं बनती। आज के भक्त वाणी के विलास में ही भक्ति की परिसीमा समझते हुए दिखाई पड़ते हैं और इससे अन्त में भक्त न रहकर भ्रष्टाचारी बनते हैं और दूसरों को भ्रष्ट करते हैं।

गीता की भक्ति कोई बाबलापन नहीं है, अंधश्रद्धा भी नहीं है। गीता में बताई गई भक्ति का बाहरी चेष्टाओं या क्रियाओं के साथ माला तिलक, ऊर्ध्य आदि साधनों का भक्त प्रयोग भले ही करे परंतु ये भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो करूणा का भंडार है, जो अहंता और ममता से मुक्त है, जिसके लिए सुख–दुख, सर्दी–गर्मी समान है, जो क्षमावान है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं हैं, जिसने अपना मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिया है, जिससे लोग त्रस्त नहीं होते जो लोगों से डरता नहीं, जो हर्ष–शोक, भय आदि से मुक्त है जो पवित्र है जो कार्य दक्ष होते हुए भी तटस्थ है जो शुभा–शुभ का त्याग करने वाला है, जो शत्रु और मित्र दोनों के प्रति समान भाव रखता है जिसकी दृष्टि में मान और अपमान

समान है, जो प्रंशसा से फूलता नहीं और निन्दा से रिवन्न नहीं होता है जो मौन है, जिसे एकांत प्रिय है और जिसकी वुद्धि स्थिर है, वह भक्त है। ऐसी भक्ति आसक्त स्त्री–पुरूषों में संभव नहीं हैं।

मनुष्य स्वयं को गोपी की उपमा देता है, इसमें कोई बुराई नहीं यदि ऐसा केवल भक्ति भाव से प्रेरित होकर किया जाता है, ईश्वर के समक्ष सभी अबला है।

भक्तिधारा लेखनी से नहीं बह सकती। वह बुद्धि का विषय नहीं है। यह झरना तो ह्दय की गुफा से ही फूट सकता है और जब वहाँ से फूट निकलेगा तब उसके प्रवाह को कोई भी शक्ति नहीं रोक सकेगी। गंगा के प्रबल प्रवाह को कौन रोक सकता है ?

ऐसी भक्ति के लिए मैं प्रयत्नशील अवश्य हूँ लेकिन यह प्रयत्न शब्दाडम्बर से सिद्ध होने का नही। इसके लिए तो कर्मयोग ही एकमात्र मार्ग है। इस योग में पूरी तरह निष्काम होना आवश्यक है। निष्काम कर्म का ही तो दूसरा नाम कर्मयोग है।

मैं जानता हूँ कि ह्दय परिवर्त्तन एकमात्र भागवत धर्म से ही हो सकता है। यह धर्म संक्रामक है। प्रकट होने के बाद किसी को अछूता नहीं छोड़ता। अगर मेरे अंदर वह भक्ति होगी और जितनी होगी तो उसी मात्रा में बिना प्रयत्न किए उसका स्पर्श दूसरों को अवश्य होगा। मैं कह सकता हूँ कि मेरे सब कार्य–क्या लिखना, क्या बोलना मुझमें यही भक्ति पैदा करने के लिए हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म को विनाश से बचाना है तो इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

ईश्वर के सामने स्त्री पुरूष का कोई भेद नहीं होता या हम सब उसके सामने स्त्रियाँ है उसके साथ एक अटूट बंधन में बँधी परिणीताएँ है। अगर उसने इस अमर विवाह की खूबी को समझ लिया हो तो उसे ऐसा समझकर खुशी से नाच उठना चाहिए कि वह मानवीय विवाह के बंधन से मुक्त है।

ईश्वर के सामने हम सभी गोपियाँ हैं। ईश्वर स्वयं न नर है, न नारी है; उसके लिए न पंक्तिभेद है, न योनि भेद, वह नेति–नेति है।

वह ह्दयरूपी, वन में रहता है और उसकी वंशी है अर्न्तनाद। हमें निर्जन वन में जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने अंतर में हमें ईश्वर का मधुर नाद सुनना है।

सभी जीवों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करना ही ईश्वर भक्ति है। ऐसी भक्ति का उद्देश्य केवल आत्मज्ञान है। कर्महीन भक्ति, भक्ति नहीं केवल भ्रम हैं।

दूसरों पर बोझ बनकर ईश्वर भक्ति में रत रहना ईश्वर भक्ति नहीं वरन उसका अपमान हैं।

भक्ति का पवित्र रूप वही है जब मनुष्य अपने सभी आवश्यक कार्यों को पूरा कर शेष समय में प्राणी मात्र की सेवा करता है। किसी के लिए भी केवल विचार शक्ति से सेवा कर पाने की स्थिति में पहुँचना संभव है। लेकिन हममे से कोई भी इस स्थिति तक नहीं पहुँच पाया है। इसलिए हाड़ मांस से निर्मित मनुष्य के लिए जीव सेवा में जीवन व्यतीत करना ही सच्ची भक्ति है। ऐसी सेवा निःस्वार्थ तथा परोपकारी होनी चाहिए। 1

संतभक्त

आदमी खुदा का बंदा बनकर निरंतर मनुष्य जाति अथवा जीवमात्र की सेवा करता है और उसी में मग्न रहता है, उसे अवश्य ही खुदा की चाकरी में रहने–निर्वाण पाने का लालच है, ऐसे मनुष्य की हम पूजा करते हैं।

तुलसीदास जी की भक्ति ऐसी थी कि उन्होंने रामायण का अनुवाद करने के बदले उसमें अपने भावों को गाया है।

सुदामा जी की इच्छा सब कुछ सहन करते रहने की थी। सुदामा जी बहुत गरीब थे और उसी स्थिति मे संतुष्ट थे, इसी से वे एक

महान भक्त भी थे। नरसिंह मेहता को श्रीकृष्ण के दर्शन हुए किंन्तु उन्होंने अपनी गरीबी से मुक्त होने की इच्छा तक नहीं की।

ईसा मसीह, मुहम्मद, बुद्ध, नानक, कबीर चैतन्य, शंकराचार्य, दयानंद, रामकृष्ण ऐसे व्यक्ति थे जिनका लाखों नर–नारियों के हृदय पर प्रभाव था और जिन्होंने असंख्य व्यक्तियों का चरित्र गढ़ा है। ये महापुरूष इस पृथ्वी पर अवरित हुए और उनके अवतरित होने से विश्व की नैतिकता में समृद्धि हुई, ध्यान रहे कि सब ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने जानबूझ कर गरीबी को अपनाया था।

हमें अपनी आत्मा का ज्ञान चारित्र्य से ही मिल सकता है। चारित्र्य क्या है? सदाचार की निशानी क्या है? सदाचारी व्यक्ति सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, निर्भयता आदि व्रतों का पालन करने का प्रयत्न करता रहता है। वह प्राण छोड़ देगा, किन्तु सत्य को कभी न छोड़ेगा। वह स्वयं मर जाएगा, परंतु दूसरे को दुख नहीं देगा। वह अपनी स्त्री के प्रति भी भोग दृष्टि न रखकर उसके साथ मित्र की तरह रहेगा। इसतरह सदाचारी ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ शरीर के सत्व को भरसक बचाने का प्रयत्न करता है। वह चोरी नहीं करता, रिश्वत नहीं लेता। वह अपना और दूसरों का समय खराब नहीं करता। वह अकारण धन इकट्ठा नहीं करता। वह ऐश आराम नहीं बढ़ाता और सिर्फ शौक की खातिर निकम्मी चीजे काम में नहीं लाता, सादगी में ही संतोष मानता है। यह पक्का विचार रखकर मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, आत्मा को मारनेवाला दुनिया में पैदा नहीं हुआ है, वह आधि–व्याधि और उपाधि का डर छोड़ देता है और चक्रवर्ती सम्राटों से भी नहीं दबता और निडर होकर काम करता चला जाता है।

मैं यह नहीं मानता कि संन्यासी एकांतवासी हो और दुनिया की कुछ भी फिक्र न करें। बल्कि संन्यासी तो वह है, जो अपनी चिन्ता न कर चौबीसों घंटे औरों की फिक्र करें। वह पूर्णतया स्वार्थ भाव से मुक्त होकर भी निःस्वार्थ कामों में लगा रहे, जिस तरह ईश्वर अविराम निःस्वार्थ सेवा में लगा रहता है।

भगवदभक्त के सत्संग से दुख, सुख रूप होता है, मृत्यु भी अमृत रूप बन जाता है और जड़ मनुष्य संपूर्ण।

जो भक्त स्तुति या पूजा का भूखा है, जो मान न मिलने से चिढ़ जाता है, वह भक्त नहीं है। भक्त की सच्ची सेवा स्वयं भक्त बनने मे है। इसलिए आजकल चलने वाली मनुष्य पूजा का जहाँ तक हो सकता है, मैं विरोध ही करता हूँ और सबको विरोध करने के लिए प्रेरित करता हूँ।

ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

साधारण लोगों की कल्पना में भक्त वह है जो भगवान की भक्ति में बाबला हो जाता है, माला हाथ मे लेकर भगवान का नाम जपता है, सेवा का काम करने से भी जिसके माला फेरने में बाधा पड़ती है, इसलिए जो खान–पान बगैरा, भोग भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है–चक्की चलाने के लिए या बीमार की सेवा या चाकरी करने के लिए कभी नहीं छोड़ता। ऐसे ज्ञानियों और ऐसे भक्तो को गीता ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है–कर्म के बिना किसी को सिद्धि प्राप्त, नहीं हुई है जनक आदि भी कर्म के द्वारा ज्ञानी बने। यदि मैं भी आलस्य रहित होकर कर्म न करूँ तो इन सारे लोकों का नाश हो जाय' तब फिर सामान्य लोगों के बारे में पूछना ही क्या?

जो ईश्वर का भक्त है उसके साथ वनस्पति भी बातें करतीं हैं क्योंकि वह उसमें ईश्वर और उसकी लीला को देखता है। भक्ति रस के इन अनेक स्वरूपों को हमने पहचाना नहीं है। यदि पहचान लें तो भक्ति का सौन्दर्य तत्काल बढ़ जाये।

ईश्वर के भक्तों वगैरह में एक हद तक ही समता होती है। पूर्ण समता जिसमें प्रकट हो वह परमेश्वर है। लेकिन परमेश्वर तो एक ही है। इसलिए पूर्णतम मनुष्य में भी अधूरी समता ही होती है। इसीलिए मतो की भिन्नता और विरोध होते हैं।

संत पुरूष का एकांत में रहकर विचार मात्र से भी सेवा कर सकना संभव है। ऐसा लाखों में एक निकल सकता है।

जो राम का प्रेमी है वह ब्रह्माण्ड के समस्त क्रिया–कलाप को सहजभाव से ग्रहण करता है। वह विनाश और निर्माण, संयोग और वियोग, सुख और दुख को निरूद्विग्न और निर्विकार भाव से देख सकता है। क्योंकि यही ब्राह्मी स्थिति है।

अनासक्त को अटूट धैर्य होना चाहिए। अनासक्त को कभी क्रोध नहीं होना चाहिए। जो मनुष्य यह मेरा है, यह तेरा मानता है, वह अनासक्त नहीं हो सकता।

साधु बनना आसान है और साधु का जीवन बिताने में अधिक सुख है। निर्जन बन में अथवा एकांत में बैठकर अध्ययन करना एक प्रकार की तपश्चर्या अवश्य है, लेकिन संसार में रहकर साधुता दिखलाना मेरे विचार में उससे ज्यादा उग्र तपस्या है।

–सुजाता

❑❑❑